

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182554

UNIVERSAL
LIBRARY

SMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H
83.1

Accession No. P.G.H 5825

A81P

3124 34-24-125

4-1-25

book should be returned on or before the date
ad below.

पलँग

तथा अन्य कहानियाँ

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९६१

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन
५ खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद

मुद्रक
पियरलेस प्रिंटर्स
बैरहना, इलाहाबाद

आवरण
एसोसिएटेड आर्टिस्ट्स
नयी दिल्ली

मूल्य : ● रुपया 

भगवान ने जिसे अपने अनुरूप गढ़ा है
उस मानव की बेबसी के नाम

दर्द की कोई लय नहीं है
नाला पाबन्दे-नय नहीं है

अनुक्रम

ठहराव :	६
भाग और मुस्कान :	३५
खाली डिब्बा :	६१
पलंग :	७५
एम्बेसेडर :	६७
टोपियाँ और डाक्टर :	१२१
बेबसी :	१४१
ये कहानियाँ :	१६५



३६— दो वर्ष बीत गये हैं और जैसे मुझे उस एक रात की छोटी-से-छोटी बात याद है, जब मैं अपने आवेग की मारी हेमी के कमरे में चली गयी थी, उसी तरह इस रात का भी नन्हे-से-नन्हा ब्योरा मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित है।.... जाने इस रात मेरे अन्तर में स्नेह का कौन-सा नया सोता फूट पड़ा....

सोचती हूँ, क्या वह आवेग सच्चा प्यार था या यह ममत्व !....लगता है वह तो छोटा-सा बरहा था, जिसके किनारे मैं प्यास की मारी जा पहुँची थी, पर जिससे प्यास बुझाकर भी मैं प्यासी ही रह जाती, और यह तो निर्मल जल का एक विशाल सरोवर है, जिसने मेरे सारे ताप को हर कर मेरी सदा-सदा की प्यास बुझा दी है !



प्रिय मन्त्रो,
तुम्हारा पत्र, जिस पर तुमने 'नितान्त व्यक्तिगत और गोपनीय'
लिख रखा था, उस तमाम सावधानी के साथ, जिसका आदेश तुमने
सुब्बो को दिया था, उसने मुझे अकेले में दे दिया । वह पता भी दिया,
जिस पर मुझे उसका उत्तर देना था और उसी पते पर मैं तुम्हें लिख
रही हूँ ।

तुम हेमी से पढ़ने लगी हो, यह जान कर खुशी हुई । वह मेधावी
और परिश्रमी लड़का है और यदि तुम मेरी तरह भावनाओं के चक्कर
में न पड़ीं, तो मुझे आशा है कि तुम बड़े अच्छे नम्बरों से बी० ए०
कर लोगी ।

रहे मेरे और उसके सम्बन्ध, तो उस सिलसिले में क्या लिखूँ ? तुमने उसका पक्ष लेकर जो गिले-शिकवे किये और जो उलाहने मुझे दिये हैं, पहले सोचा था उनके बारे में चुप लगा जाऊँ, लेकिन फिर दिन-भर के असमंजस के बाद कलम लेकर बैठ गयी हूँ ।

तुम्हारा यह कहना ग़लत है कि हेमी से इतने वर्षों के प्यार को मैंने यहाँ आते ही भुला दिया और मैं बड़ी निर्मम हूँ । पहली बात तो यह है कि हेमी चाहे हमारे घर में वर्षों से रहता हो, पर उसका-मेरा प्यार चन्द महीनों ही का था । फिर वह वास्तव में प्यार था, मैं इस सम्बन्ध में तय नहीं कर पायी । उसमें बड़ा आवेग था, मैं मानती हूँ, पर क्या वह प्यार था ? प्यार, जैसा कि उस शब्द के अर्थ में अब समझती हूँ !

तुम मसूरी में थीं, जब वह-सब हो गया । तुम्हारे वापस आने से पहले मैं दुल्हन बनकर यहाँ आ चुकी थी, इसलिए तुमने केवल सुनकर ही यह अंदाज़े लगाये हैं । सोचती थी, कभी वहाँ आकर तुम्हें सब किस्सा बताऊँगी, लेकिन शायद मेरा जल्दी आना न हो, इसलिए सोच-सोचकर यह-सब लिखने बैठी हूँ ।

हेमी, जैसा कि शायद तुम्हें मालूम हो, बड़े दूर के रिश्ते से मेरा भाई है । कॉलेज में इन दूर के भाइयों पर हम हँसा करती थीं । वह मेरे पिता की बुआ की लड़की की ग़रीब विधवा ननद का लड़का है । उसने अपने देहाती स्कूल से जब ज़िले में फ़र्स्ट रहकर मैट्रिक पास किया तो निकट कोई कॉलेज न होने से, उसकी ग़रीब माँ ने फूफी का सिफ़ारिश से उसे हमारे यहाँ पढ़ने को भेज दिया । इतने बड़े धनी परिवार में रहकर एक ग़रीब रिश्तेदार का लड़का पढ़ जायगा, बाबूजी का इसमें क्या आपत्ति होती । छात्रवृत्ति उसे मिलती ही थी; फ़्रीस बाबू जी ने माफ़ करा दी; कोठी में एक कमरा ऊपर की छत पर उसे

मिल गया और वह हमारे यहाँ रहने लगा। बाबू जी सदा हमारे सामने उसका गुणगान करने लगे और गुल्लू-मुल्लू भी उसी की तरह मेधावी और विद्वान बनें, इस दृष्टि से उन्होंने मेरे दोनों भाइयों को उससे रोज़ एक घण्टा पढ़ने का आदेश दिया। बाबू जी चाहते थे कि मैं भी उससे पढ़ूँ, लेकिन मुझे वह एकदम संकोची, फूहड़ और गँवार लगा। जब अम्मा ने ज़ोर दिया तो मैंने कह दिया कि मैं इस बन्दर से नहीं पढ़ूँगी !

मैंने हेमी को बन्दर कहा था और अम्मा ने मुझे डाँटा भी था, यह बात मैंने हेमी को बता भी दी थी। तुम उससे पूछ लेना। तीन बरस तक अम्मा के बार-बार कहने पर भी मैं उसे न भाई साहब कह सकी, न हेम जी; सदा उसी उपेक्षापूर्ण आधे नाम से पुकारती रही।

लेकिन यह भी ठीक है कि एफ० ए० में दाखिल होते ही मैं अचानक उससे प्यार करने लगी (यदि उस पागलपन को प्यार कहा जा सकता है तो!) और वह आवेग आँधी-सा उठकर मेरे मन-प्राण पर छा गया।

बाबू जी ने हमें बड़ी सुख-सुविधा और लाड़-प्यार में पाला था। हेमी का स्तर हम से कहीं नीचा था। मैंने कभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया (उसकी अपेक्षा तो मुझे पड़ोसी जज का लड़का अच्छा लगता था, वह मिलिट्री में न चला जाता तो शायद उससे प्यार करने लगती।) लेकिन अब सोचती हूँ तो लगता है कि शहर के तीन वर्षों ने यद्यपि हेमी का संकोच दूर नहीं किया, उसके कपड़े भी सीधे-सादे ही रहे, पर उसे काफ़ी सभ्य और संस्कृत बना दिया। उसके बालों की काट, उसके कपड़ों की तराश, उन्हें पहनने का ढंग, सब-कुछ

धीरे-धीरे बदलता गया। वह सुन्दर तो नहीं, पर सौम्य अवश्य लगने लगा।

इस पर भी शायद मैं उसकी ओर इस तरह न झुकती, यदि अम्मा ने एक शाम अकारण ही मुझे उसके निकट बैठने से टोक न दिया होता।

दो-ढाई वर्ष पहले की वह छोटी-सी बात आज भी मुझे अच्छी तरह याद है। शाम का वक्त था। मैं अन्दर बरामदे में बैठी पढ़ रही थी। प्रायः शाम की चाय के बाद मैं वहीं पढ़ा करती थी। तभी मेरे दोनों छोटे भाई हेमी के आगे-आगे वहीं आ गये। हाथ में उनके किताबें थीं, डाइनिंग-टेबल की कुर्सियाँ घसीटकर वे बैठे गये। क्रोध से मैंने आँखें उठायीं।

प्रायः वे लोग अपने कमरे में अथवा ऊपर हेमी के कमरे में पढ़ते थे। इससे पहले कि मैं कुछ कहती, हेमी ने किंचित् संकोच से कहा—“यदि आप डिस्टर्ब न हों तो गुल्लू और मुल्लू को यहीं पढ़ा दूँ! हमारे कमरों में बिजली ठीक हो रही है।”

मैं कहना चाहती थी कि बाहर बरामदे में पढ़ा दो, लेकिन उसकी आँखों से आँखें मिलीं तो कह न सकी। कुछ अजीब-सी भावना उन आँखों में थी। मेरे माथे के तेवरों से शायद उसने मेरे मन की बात भाँप ली।

“हम बाहर जा बैठते,” वह बोला, “पर बाहर बाबू जी कुछ मित्रों के साथ बैठे हैं।”

“कोई बात नहीं!” मैंने कहा और कुर्सी की पीठ उनकी ओर करके मैं बैठी पढ़ती रही।

दो-एक बार मैंने पुस्तक से निगाहें उठाकर उनकी ओर मुड़कर देखा तो हेमी को अपनी ओर देखते पाया। उन आँखों में न जाने

क्या था ! कुछ अजीब-अजीब-सा मुझे लगा ।

पढ़कर लड़कों के चले जाने के बाद भी हेमी वहीं बैठा रहा । मुझे लगा, जैसे वह निरन्तर मेरी ओर देख रहा हो । मेरी गर्दन के पीछे दो चोटियों के बीच बालों की एक छोटी-सी लट है, जो किसी चोटी में नहीं आती और बाल घुँघराले होने से उसका कुण्डल बन जाता है । मुझे लगा, हेमी की दृष्टि उसी में जमी है । विचार-मात्र से मुझे रोमांच हो आया और मैं आँचल ठीक करने के लिए मुड़ी । उसकी दृष्टि कापी पर नहीं, मेरी ओर ही लगी थी ।

तभी अम्मा का स्वर मेरे कानों में गूँजा—“शक्को, यहाँ बैठी क्या कर रही हो !”

इससे पहले कि मैं उत्तर देती, अम्मा हेमी की ओर मुड़ी, “बत्ती वहाँ है और तुम यहाँ बैठे पढ़ रहे हो ? चलो, अपने कमरे में चलकर पढ़ो !”

हेमी उठा । मैंने देखा, एक लम्बी साँस को बरबस उसने अपने सीने में दबा लिया । “गुल्लू ने निबन्ध लिखा था, मैंने सोचा, अभी देख दूँ !” उसने अपराधियों के-से स्वर में कहा ।

यह कहते हुए निमिष-भर को उसने मेरी ओर देखा, न जाने उन आँखों में क्या था कि मेरा हृदय धड़कने लगा । मन हुआ, अम्मा से कहूँ, “बैठा रहने दो इसे यहीं अम्मा, मैं ही उठ जाती हूँ ।”

लेकिन मैंने कुछ नहीं कहा । हेमी चला गया था । अम्मा क्या बड़बड़ाती रही, मैंने नहीं सुना । लपकती हुई अपने कमरे में गयी । उपन्यास यद्यपि बड़ा मनोरंजक था, पर मैंने उसे मेज़ पर पटक दिया और बिस्तर पर जा लेटी ।—तब इतने जोर की अँगड़ाई आयी कि हड्डियाँ तक कड़कड़ा गयीं । फिर मैं घुटनों को पेट के साथ बाँधकर लेट गयी । हेमी की उसी दृष्टि ने मुझे फिर खू लिया और न जाने क्यों

अचानक मेरी आँखें भर आयीं ।

मैं सच कहती हूँ मन्नो, यदि मुझे अम्मा ने इस तरह टोका न होता तो हेमी के और मेरे बीच की दीवार इतनी जल्दी न टूटती । उन दिनों की बात आज सोचती हूँ तो पाती हूँ कि वास्तव में मैट्रिक ही से मेरा ध्यान उसकी ओर जाने लगा था, लेकिन जब-जब मैंने उसकी ओर देखा, मुझे उसकी किसी-न-किसी बात से घोर वितृष्णा हुई । पढ़ने में वह तेज़ है; सदा फ़र्स्ट, सेकेण्ड रहता; पर उसके स्वभाव में जो संकोच था, अम्मा और बाबू जी से बातें करते समय उसके स्वर में जो लिजलिजाहट-सी आ जाती थी, जैसे उनके अहसान के बांझ-तले वह दबा जा रहा हो, वह मुझे सख्त बुरी लगती थी ।

लेकिन उस शाम अकेले में उसके साथ बैठे देखकर अम्मा ने जो टोका, तब जाने क्यों, जब मैं अपने कमरे में आयी तो बार-बार उसी का खयाल आने लगा, उसके संकोच और लिजलिजाहट के लिए भी उसकी स्थिति को देखते हुए मेरे मन में सहानुभूति उमड़ आयी और चन्द ही मिनटों में वे सारी मंज़िलें मैं तय कर गयी, जो वर्षों में तय न कर पायी थी ।

हेमी के आकर्षण ने मुझे अनायास चतुर बना दिया । अम्मा और बाबू जी के सामने मैं सदा उसकी बुराई करती अथवा उसके प्रति घोर वितृष्णा प्रकट करती, लेकिन अकेले में उसे एक नज़र देखने, उससे दो बातें करने का अवसर खोज लेती । हेमी सदा बाबू जी के साथ खाना खाता, मैं गुल्लू-मुल्लू के साथ पहले खा लेती, पर एक दिन जब मैंने पहले खाना न खाया और बाबू जी ने अपने साथ खाना खाने का अनुरोध किया तो मैं बैठ गयी और फिर सदा उन्हीं के साथ खाना खाने लगी ।

तिमाही परीक्षा में जब मैं गणित में फ़ेल हो गयी और बाबू जी ने फिर हेमी से पढ़ने को कहा तो मैंने प्रकट नाक-भौं चढ़ायी, पर मन में

प्रसन्न हुई और उससे पढ़ने लगी और एक घण्टे के बदले दो-दो घण्टे उसका वक्त बरबाद करती रही।

एक दिन कॉलेज से आने पर सुन्नों की मास्त्री से मैंने जब शिकायत की कि एक लड़का हमें कॉलेज जाते समय परेशान करता है तो बाबू जी ने हेमी की ड्यूटी लगा दी कि वह युनिवर्सिटी जाता हुआ रास्ते में हमें छोड़ता जाय। यद्यपि उसके पहले दो पीरियड खाली होते थे, पर वह मेरे किसी काम आ सके, इससे ज़्यादा खुशी उसे किस बात में होती ! बाबू जी को उसने आश्वासन दिया कि खाली पीरियड वह लायब्रेरी में बैठकर पढ़ लिया करेगा और मुझे कॉलेज छोड़ना हुआ युनिवर्सिटी चला जाया करेगा।

एक दिन हम कॉलेज पहुँचे तो मालूम हुआ कि अचानक हड़ताल हो गयी है। युनिवर्सिटी बन्द हो गयी है और लड़कों का जुलूस सब कॉलेज-स्कूल बन्द कराता जा रहा है। हम जुलूस के साथ-साथ बैरहना तक गये।

बरसात के दिन थे, हल्की-हल्की बूँदियाँ पड़ रही थीं। न जाने मुझे क्या हुआ, मैं वहाँ से हेमी को बरबस त्रिवेणी ले गयी और हम घण्टों बाद पर आयी हुई गंगा-यमुना का आनन्द लेते रहे। हेमी के 'न-न' करने पर भी मैंने किशती ले ली और किनारे-किनारे हम किले तक हो आये। धीरे-धीरे हेमी का डर दूर हो गया और उसने मुझे बड़े ही लोच-भरे स्वर में देहात के गाने सुनाये और पहली बार मुझे लगा कि हेम से मुझे अगाध प्रेम है और मैं उसके बिना ज़िन्दा नहीं रह सकती।

रात मैं बहुत देर तक मेज़ पर बैठी रही। मैं थक गयी थी। मुझे लगता था, जैसे मेरा शरीर तप रहा है, पर मेरी आँखों में नींद न थी। आग-सी जैसे मेरी नसों में रेंग रही थी, दिमाग को चढ़ी जा रही

थी। यों मेरे सामने किताब थी और कापी भी थी और मैं उस पर एक प्रश्न भी हल करने का प्रयास कर रही थी, पर मेरी आँखों में नदी का विशाल वक्ष था और उस पर छोटी-सी हमारी किशती और हेमी की मुरीली आवाज़ और देहात का वह प्रेम-भरा गीत....

दस बजे, ग्यारह बजे, बारह बजे और जब मुझे लगा कि सब सो गये हैं, पर मैं न सो पाऊँगी तो दबे-पाँव मैं ऊपर को चल दी। मेरा दिल जोर से धड़क रहा था। हेम ने मुझसे कहा था कि मैं कभी उसके कमरे में न आऊँ, संयत रहूँ, वह एम० ए० करके स्वतन्त्र हो जाय, मेरे योग्य बन ले, तो फिर....

लेकिन मुझे लग रहा था कि हेम से उसी वक्त न मिलूँगी तो सो न पाऊँगी—उसी रात नहीं, उसके बाद की रात भी नहीं, कभी नहीं—मेरी नींद सदा-सदा के लिए उड़ जायगी !

न जाने कैसा पागलपन था ! हाथ में गणित की कापी और पेंसिल और नंगे पाँव....

हेम के कमरे में बत्ती जल रही थी। वह मेज़ पर पढ़ रहा था। मैंने कमरे में पाँव रखा ही था कि उसने चौंककर आँखें उठायीं, कुछ अजीब-सा त्रास और उल्लास-मिला आश्चर्य था उनमें, “तुम क्यों आयी हो इस वक्त ?” उसने होंठों में कहा।

यह एक सवाल मुझे समझ में नहीं आ रहा था, घण्टों से परेशान हूँ। मैं बड़े भोलेपन से बोली।

“सुबह समझ लेती।”

“नींद जो न आती।”

“कल समझा दूँगा, इस वक्त नहीं, इस वक्त मैं....”

लेकिन इससे पहले कि वह कुछ कहती या मैं आगे कदम बढ़ाती, सहसा पीछे से बाबू जी की आवेशहीन, समतल, पर कठोर आवाज़

आयी—“शक्को ! क्या कर रही हो इस वक़्त तुम यहाँ ?”

मेरा धड़कता हुआ दिल एकदम सन्न हो गया, चेहरे का रंग उड़ गया । आवाज़ को यथा-सम्भव संयत बनाकर मैंने कहा, “घण्टों से कोशिश कर रही हूँ, पर यह सवाल हल नहीं हो रहा । सोचा, हेमी भाई से समझ लूँ, लेकिन ये हैं कि....”

“मेरा कल टेस्ट है,” हेमी ने कहना चाहा ।

“चलो, कल समझ लेना । इस ग़रीब को पढ़ने दो, तुम लोग पास हो या फ़ेल, पर इसे तो फ़र्स्ट रहना है !”

और किंचित् हँसकर, मुझे बाँह में लेते हुए बाबू जी नीचे ले आये ।

मैं फिर मेज़ पर बैठने लगी तो उन्होंने सोने के लिए कहा । मैंने नींद के न आने की शिकायत की तो बाबू जी ने अपने कमरे में जाकर अम्मा को भेज दिया कि वह ज़रा मेरे सिर में तेल लगा दे ।

अम्मा ने मेरे सिर में तेल लगाया । मेरी आँखें भारी भी हुईं, मैंने उन्हें मूँद भी लिया, पर जब यह समझकर कि मैं सो गयी हूँ, वह दबे पाँव बिस्तर से उतर, बत्ती बुझाकर चली गयीं, तो मन्नो, सच जानो, मेरी आँखें फिर सपाट खुल गयीं । कोशिश करने पर भी मैं सो न सकी । निरन्तर शून्य में तकती रही....बाबू जी को स्वयं लिटाकर मैंने दूध पिलाया था, अम्मा की पिंडलियाँ दबाकर उन्हें सुला आयी थी; उनके कमरे की बत्ती को बन्द हुए जब पूरा डेढ़ घण्टा हो गया था, तब मैं ऊपर गयी थी; मेरे पाँव नंगे थे, फिर भी बाबू जी मेरे पीछे पहुँच गये । मुझे बार-बार क्रोध आता कि मैंने उनके पाँवों की चाप क्यों नहीं सुनी ? पर उस समय शायद मैं अपने ही दिल की धड़कन सुन रही थी....क्या उन्हें पहले से सन्देह था ? क्या उन्होंने या उनके किसी मित्र ने हमें संगम पर देख लिया था ? मेरी सारी चतुराई के बावजूद

क्या मेरी आँखों ने मेरे दिल की बात कह दी थी ?....मैं कुछ भी तय न कर पायी । करवटें बदलती रही । एक बजा....दो बजे....तीन बजे.... तय न जाने क्या उबाल-सा मेरे मन में आया, मैं उठी । बिना बत्ती जलाये, बिना आवाज़ किये, अपने छोटे भाइयों के बिस्तरों के पास गयी । वे गहरी नींद सोये थे । बाबू जी के कमरे के बाहर देर तक खड़ी रही । वे और अम्मा दोनों खर्राटे ले रहे थे । वहीं खड़े-खड़े मैंने दोनों के खर्राटों में हल्के-से अंतर को भी मार्क किया....तब आश्वस्त होकर मैं फिर ऊपर को चल दी ।

यद्यपि आकाश पर बादल घिरे थे, पर उनके पीछे छुपे चाँद के कारण कुछ-कुछ उजेला था ।

हेमी के कमरे की बत्ती बुझ चुकी थी । शायद वह थक-हारकर सो गया था । कमरे का दरवाज़ा खुला था, मैं बिना दस्तक दिये अन्दर दाखिल हुई । चाहती थी, उसके बालों पर प्यार से हाथ फेर कर उसे जगा दूँ....पर शायद वह भी मेरी तरह गंगा की लहरों पर विचर रहा था, सोया न था । इससे पहले कि मैं उसकी चारपाई के पास पहुँचती, वह चौंककर उठा, “कौन ?”

“मैं, शक्को !” मेरे होंठों से बमुश्किल आवाज़ निकली....और दूसरे क्षण मैं उसके सीने से चिमट गयी ।

“शक्को ! तुम नहीं चाहती कि मैं यहाँ रहूँ ?” उसने जैसे मेरी गर्दन की उसी लट से कहा, क्योंकि वहाँ मैंने उसकी साँस की गर्मी महसूस की ।

“मैं चाहती हूँ कि तुम हमेशा-हमेशा यहाँ रहो !” मैंने उसके सीने से लगे-लगे कहा, “मैं तुमसे अब नहीं मिलूँगी, पर मैं कहने आयी थी कि मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारी हूँ, तुम्हारी ही रहूँगी !”

गर्दन की उस लट पर गर्मी कुछ और बढ़ गयी ।

“शक्को ! मुझे तुम्हारी बात पर विश्वास है, लेकिन अब तुम अपने लिए, मेरे लिए, भगवान के लिए यहाँ से चली जाओ !”

“वस चली जाती हूँ !”—मैंने बरबस अपने-आपको उससे अलग किया। उसके दोनों गाल अपने हाथों में लिये, निमिष-भर उसकी आँखों में देखती रही, फिर उसके दोनों गाल हल्के-से दबाकर पलट आयी।

और जैसे मेरे मन का सारा बोझ उतर गया हो। विस्तर पर लेटते ही मैं गहरी नींद सो गयी।

मन्नो, अब तुम्हें विश्वास आ जायगा कि मैं अपने उस आवेग को नहीं भूली। यों मुझे उसकी याद नहीं आती, पर अब, जब लिखने बैठी हूँ, तो उस आवेग का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्योरा मेरी आँखों के सामने आ गया है। तुम कहोगी, यदि यह प्यार नहीं था तो फिर प्यार होता क्या है ? पर मन्नो, यदि मैंने दूसरे प्यार की अनुभूति न पायी होती तो शायद मैं भी ज़िन्दगी-भर इसी को प्यार समझती, लेकिन मैंने एक और गहरे, नस-नस से उछल पड़ने वाले नहीं, नस-नस में पैठकर रक्त का अंग बन जाने वाले प्यार की भी अनुभूति पायी है। मैं अपनी इस अनुभूति को झुठला कैसे दूँ ?

मेरे उस पहले प्यार की पतंग जिस तेज़ी से आकाश का सीना चीरती-सी ऊपर को उठी थी, उसी तेज़ी से पलटकर नीचे धरती की ओर बढ़ चली।

दूसरी सुबह मैं देर से उठी तो मैंने देखा कि हेम का विस्तर रिक़शा पर रखा हुआ है और वह जाने को तैयार है। अम्मा से पूछा तो पता चला कि रात उसके घर से तार आया है, उसकी माँ की

तबीअत बहुत खराब है ।

‘तार आया है ! कब आया है ? साढ़े तीन बजे तो मैं उसके पास थी, तार आया होता तो मुझे न बताता ?’ मैंने मन-ही-मन कहा और पलटी । जी में आया कि भागकर उससे पूछूँ कि सच्ची बात क्या है ! पर बाहर बरामदे में बाबू जी खड़े थे । साहस नहीं हुआ । हेम शायद अम्मा वगैरह से मिल चुका था । उसका ध्यान बटाने के लिए मैंने ज़ोर-ज़ोर से गुल्लू-मुल्लू को आवाज़ें दीं । बाबू जी ने मेरी ओर पलट कर देखा, पर हेम ने उधर आँखें नहीं फिरायीं, बाबू जी को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और रिक़शे में जा बैठा ।

मैं उस दिन कॉलेज नहीं गयी । सिर-दर्द का बहाना करके अपने कमरे में लेटी रही । न मैं नहायी-धोयी, न मैंने नाश्ता किया, न खाना खाया और दूसरे दिन सचमुच मैं बीमार पड़ गयी । ज़ोर का बुखार हो आया । सप्ताह-भर मैं बीमार पड़ी रही । जब अच्छी हुई और कॉलेज जाने लगी, तो बाबू जी ने अचानक टोक दिया, “डाक्टर ने कहा है कि तुम्हें साल-छः महीने आराम करना चाहिए, नहीं तुम्हारी सेहत खराब हो जायगी, इसलिए मैंने कॉलेज से तुम्हारा नाम हटा लिया है ।”

मैं लाख छुटपटायी, मैंने लाख कहा कि मैं बिल्कुल ठीक हूँ, योही कॉलेज से आते वक़्त भीग गयी थी, पर बाबूजी नहीं माने । प्यार से मुझे बाँह में भरकर उन्होंने कहा, “डाक्टर ने कहा है कि तुम्हारा फेफड़ा कमज़ोर है ! कुछ दिन घर रहकर आराम करो । खाओ, पियो और सेहत बनाओ ! नौकरी तो तुम्हें करनी नहीं कि तुम्हें पढ़ाई की चिन्ता हो ।”

मेरा खयाल था कि हफ़्ते-पन्द्रह दिन तक हेम आ जायगा; लेकिन न वह आया, न मैं कॉलेज जा सकी । और एक दिन जब हम

बाबूजी के साथ सिनेमा देखकर लौटे तो मालूम हुआ कि दिल्ली के कोई नागपाल जी हैं, जो अपनी चाची के साथ सिनेमा में थे और उनके साथ मेरी बात पक्की हो गयी है।

इसके बाद दो महीने मुझ पर जो बीती, उसे मुझे खूब जानती है। कभी तुम उससे पूछना, मैं कितना रोयी हूँ और कितना उदास रही हूँ। मैं सच कहती हूँ कि अगर हेम वहाँ होता और वह हल्का-सा संकेत भी कर देता तो मैं उसके साथ, एक पल भी सोचे बिना दुनिया के दूसरे सिरे तक चली जाती। पर हेम वहाँ नहीं था, न उस तक पहुँचने का कोई रास्ता था और यद्यपि लगता तो नहीं था, तो पर मुझ पर कड़ा पहरा था और मेरे विवाह की तैयारियाँ बड़े जोर-शोर से जारी थीं।

मैं इन दो महीनों में कितना छुटपटायी, यह मैं ही जानती हूँ। बाबूजी और अम्मा में इतना सब मैंने कभी नहीं देखा। मैंने नखरे किये; खाना-पीना छोड़ा; बीमारी का बहाना किया; कहा, मैं शादी नहीं करूँगी, पर विवाह की तैयारियाँ अनवरत होती रहीं। गहने-कपड़े बनते रहे; बाबूजी स्वयं मुझे सिनेमा दिखाने, सैर कराने, हर तरह मेरा मन बहलाने को ले जाते रहे और यद्यपि मैंने न एक गहना पसन्द किया, न एक कपड़ा, पर मेरी सहेलियों से पूछ-पूछकर मेरे मनपसन्द गहने-कपड़े तैयार कराये जाते रहे।...और नागपाल जी कितने सुन्दर हैं, उनका स्वभाव कितना अच्छा है, उनका खानदान कितना बड़ा है, कितना धनी है, मैं वहाँ कितनी सुखी रहूँगी, सास-ससुर की कौद से आज़ाद अपने घर की एकछत्र रानी...यह सब मुझे बताया जाता रहा। यहाँ तक कि सब सुनते-सुनते मेरे कान पक गये और मन-ही-मन मैंने तय कर लिया कि शादी के बाद पहली रात नागपाल जी को मैं अपने प्रेम की कहानी सुना दूँगी और वापस आ

जाऊँगी, चाहे फिर बाबू जी मेरे टुकड़े-टुकड़े कर दें। मैं आगे पढ़ूँगी, एम० ए० करूँगी और अपने मन के साथी के साथ रहूँगी....

लेकिन मेरा वह मन का साथी तब आया, जब मेरी शादी हो चुकी थी और मैं डोली में (जो वास्तव में एक बढ़िया, सुन्दर कार थी) बैठ चुकी थी। मैंने उसे देखा नहीं, केवल उसकी आवाज़ सुनी। वह बाबू जी को बधाई दे रहा था और शायद कह रहा था कि माँ की बीमारी के कारण वह पहले नहीं आ सका।

जाने क्या षड्यन्त्र था ! तुम्हीं हेम से पूछना। उसकी आवाज़ सुनकर मैंने ज़रा-सा घूँघट उठाया था, पर वह दूसरी ओर देख रहा था, और फिर मेरी सहेलियों और पड़ोसी औरतों ने मुझे घेर लिया।

मन्नो, सच जानो, तेल-चढ़ाई से लेकर ससुराल के इस कमरे में आने तक, जहाँ मेरे सुहाग की सेज बिछी थी, मुझे किसी रस्म का ज्ञान नहीं। यन्त्रचालित-सी मैं वस रस्में पूरी करती रही। कभी मुझे हेमी पर क्रोध आता, कभी बाबू जी पर, कभी अम्मा पर और कभी नागपाल जी पर ! सहेलियों ने मेरे दूल्हे की बड़ी तारीफ़ की, पर मैंने एक बार भी उन्हें देखने का प्रयास नहीं किया। अपनी आँखें और कान मैंने बन्द कर लिये। एक प्रबल हठ और आक्रोश से मैं अपने घर से विदा होकर आ गयी। अपने सगे-सम्बन्धियों से मिलते समय मेरी आँखें नम नहीं हुईं। अम्मा और बाबू जी का कंठ चाहे गीला हुआ, पर मेरा एकदम सूखा रहा। मन होता था कि समय को पर लग जायँ और वह क्षण आ जाय, जब मैं नागपाल जी को अपना सारा किस्सा सुनाकर (जो नहीं हुआ, वह सब भी कहकर) उनका और बाबू जी का सारा तिलस्म तोड़ दूँ। वचन से मैं जैसे ज़िद करती आती थी, कुछ वैसी ही ज़िद मुझे हो उठी और जैसे उस प्रबल हठ से अन्धी-बहरी हो, मैं सारी रस्मों को लाँघकर अपनी ससुराल के इस

सजे-बजे कमरे में आ बैठी, जिसे सास और ननदों की अनुपस्थिति में, दूर की उसी चची ने सजाया था, जो सिनेमा घर में मुझे पसन्द कर आयी थी और मुझे खिला-पिलाकर यहाँ बैठा गयी थी।

यही कमरा था, जिसमें कि मैं अब बैठी हूँ; यही पलंग था, यद्यपि मैं इस पर नहीं, कौच पर बैठी थी। कमरे की सजावट, बनावट, किसी ओर मेरा ध्यान न था; अपनी सहेलियों से सुनी हुई, पहली रात के सम्मिलन की बातें मेरी आँखों के सामने घूम-घूम जाती थीं और मैं बार-बार कल्पना-ही-कल्पना में उस दृश्य को दुहरा रही थी कि वे मेरा हाथ पकड़कर उठाते हैं और मैं उन्हें रोककर वहीं बैठा लेती हूँ और हेम से अपने प्रेम और ज़बरदस्ती विवाह के उस बन्धन में बाँध दिये जाने की कहानी बता देती हूँ। कहती हूँ कि मैं हेम से प्यार करती हूँ और उसी से प्यार करती रहूँगी। उनके मुस्कराते चेहरे पर स्याही पुत जाती है, वे स्तम्भित-से खड़े रह जाते हैं और फिर हाथ छोड़, क्रोध के मारे कमरे से निकल जाते हैं।

नहीं जानती, मन्ना, मैंने इस दृश्य को कितनी बार देखा और कितनी तरह देखा कि सहसा उनके बातें करने की आवाज़ सुनाई दी।

दिन में यद्यपि नागपाल जी कई बार बैठक से अन्दर आये थे, चची से मेरे खाने-पीने, सुविधा-असुविधा के बारे में पूछते रहे थे, पर न मैंने सिर उठाकर उनकी ओर देखा था, न उन्होंने ही मुझसे बात करने की उत्सुकता प्रकट की थी। इस पहले दिन नये दूल्हों की आतुरता के बीसियों क्रिस्से मैंने सहेलियों से सुन रखे थे कि कैसे सगे-सम्बन्धियों की भीड़ के बावजूद, रात आने की प्रतीक्षा किये बिना, पति अपनी दुलहनों का मुख देखने, उनसे एकाध बात करने को

आतुर हो जाते हैं और मैंने तय कर रखा था कि मैं उनकी किसी बात का उत्तर नहीं दूँगी। एक ही बार दो-दूक बात करूँगी। उनकी आवाज़ मेरे कानों में ज़रूर आती रही थी—मीठी-मीठी हमदर्दी और प्यार-भरी आवाज़—लेकिन, वे मेरे निकट नहीं आये। चची से ही बातें करके चले जाते रहे और उनकी वह आवाज़ अच्छी लगने के बदले मुझे चिढ़ाती और खिन्नाती रही।

नागपाल जी के पिता उनके शैशव ही में दिवंगत हो गये थे और उनकी माता का देहान्त मेरे विवाह से दो ही वर्ष पहले हुआ था। दूर-नज़दीक की रिश्तेदार औरतें दिन-भर घर में हुड़दंग मचाती, मेरे रूप-रंग की प्रशंसा कर नागपाल साहब को बधाइयाँ देती, सास जी की याद करके आँखों में आँसू भर-भर लाती रही थीं, जो सुख का यह महत्वपूर्ण दिन न देख सकीं और मैं मन-ही-मन सोचती रही थी कि अच्छा हुआ, पहले ही चली गयीं, नहीं शादी के प्रथम दिन ही अपने प्रिय पुत्र के वैवाहिक जीवन को यों टूटते देखकर उन्हें कितना कष्ट होता !....उस उल्लास और हर्ष के वातावरण को छिन्न-भिन्न कर देने के अपने इरादे और उसकी काल्पनिक सफलता पर मैं मन-ही-मन मुस्करायी और हर क्षण उस एक क्षण की प्रतीक्षा करती रही, जब रात पड़े और वे मेरे कमरे का पर्दा उठाकर अन्दर आयें....

बाहर उनके कदमों की चाप सुनकर मैं चैतन्य होकर बैठ गयी। यदि मेरे मन में क्रोध न होता, मैं अपने मन से खुश-खुश यहाँ आयी होती, तो शायद मैं वैसे ही लम्बा-सा घूँघट खींचे बैठी रहती। लेकिन मन्त्रो, मैं तो हफ्तों से इस अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी। मैंने घूँघट ज़रा-सा ऊँचा कर लिया और यदि सच कहूँ तो पहली बार उन्हें

नज़र भरकर देखा। गोरा-चिट्ठा रंग, चौड़ा माथा, बड़ी-बड़ी आँखें, गोल चेहरा, गठा हुआ बदन और मँझला कद—कुर्ते और पायजामे में वे बड़े अच्छे लगते हैं....लेकिन उस वक़्त मेरी आँखों पर क्रोध की पट्टी बँधी थी। एक नज़र उन पर डाल, मैं सिर झुकाकर बैठ गयी और मैंने घूँघट भी खींच लिया

लेकिन उन्होंने न मेरा घूँघट उठाया और न मेरा हाथ खींचा। वे चुपचाप आकर मेरे सामने कौच पर बैठ गये।

“शकुन !”

मुझे सदा घर में सब शक्को कहकर पुकारते आये हैं; इस नये सम्बोधन में मुझे कुछ अजीब-सी स्निग्धता और मिठास लगी, पर मैं चुप बैठी रही।

“शकुन !” उन्होंने फिर उसी स्नेह-भरे धीमे स्वर में कहा, “तुम्हें कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई ?”

मैं फिर चुप रही। इस बात की प्रतीक्षा करती रही कि वे मेरा घूँघट उठायेँ अथवा हाथ छुएँ। लेकिन वे स्थिर वहीं बैठे रहे। फिर एक घुटना उन्होंने दूसरे घुटने पर रख लिया और ऊपर के घुटने को दोनों हाथों में बाँधते हुए, उसी स्निग्ध स्वर में बोले, “मैं समझता हूँ, तुम्हें ज़रूर असुविधा हुई होगी। चची मेरे दूर के रिश्ते की हैं। माँ से कभी इनकी पट्टी नहीं, किसी तरह मनाकर लाया हूँ। बाकी स्त्रियाँ पास-पड़ोस की थीं, उनके स्वागत-सत्कार में वह प्यार और स्निग्धता कहाँ से आयेगी, जो बेटे की माँ उसकी बहू को दे सकती है।”

एक लम्बी साँस को उन्होंने अपने सीने में दबा लिया और देर तक मौन बैठे शून्य में तकते रहे। फिर बोले, “शकुन, मुझे अफ़सोस है, तुम्हें पहले दिन ही से सास और बहू, दोनों को अपने ही में पाना

होगा, अपने को ही सास समझो और अपने को ही बहू और जिस चीज़ की ज़रूरत हो, अपने से ही माँग लो !”

एक ही स्त्री के सास और बहू होने की कल्पना से अनचाहे मुझे हँसी आ गयी और मेरे मुँह से निकल गया, “तो लड़ूँ भी अपने ही से ?”

कहते ही मैंने अपनी जीभ काट ली, पर बात तो मुँह से निकल गयी थी ।

वे कुछ उदासी से हँसे, “लड़ना क्या ज़रूरी है ?”

सोचा था, अब उत्तर न दूँगी, पर फिर कह बैठी, “बहू के रूप में न लड़ूँ तो सास के रूप में तो लड़ सकती हूँ ।”

उन्होंने लम्बी साँस ली, “तुमने अपनी सास को नहीं देखा । वे तुमसे कभी न लड़तीं । पिता जी को तो मैंने जाना नहीं । मेरे होश सम्हालने से पहले ही परलोक सिधार गये थे । पर माँ को तो मैंने देखा है । मैं जो-कुछ हूँ, माँ का बनाया हूँ । माँ को मैं खूब समझता था । वे तुमसे कभी न लड़तीं (उन्होंने ‘कभी’ पर जोर दिया) तुम लड़तीं तो वे घर छोड़कर कहीं दूसरी जगह चाहे जा रहतीं, पर झगड़ा न करतीं ।

वे कुछ क्षण चुप बैठे रहे । फिर बोले, “शकुन, तुम मेरी माँ की स्नेहशीलता की कल्पना नहीं कर सकतीं । दृढ़ थीं, लोहे की तरह और कोमल थीं, मोम की तरह ! पिता जी की मृत्यु के बाद सारे कार-बार ही को उन्होंने नहीं चलाया, मुझे भी इस योग्य बनाया कि मैं अपने पूर्वजों का नाम कायम रखूँ । फिर जाने कितने पड़ोसियों की उन्होंने सहायता की । दया-माया उनमें कितनी थी, मैं तुम्हें क्या बताऊँ.... बातें छोटी-छोटी हैं, पर मेरे मन पर उनकी अमिट छाप है—

“बहुत पहले की बात है, मैं कोई आठ-दस वर्ष का रहा हूँगा ।

हमारे यहाँ एक रसोइया था, शंकर । काफ़ी पुराना नौकर था । उसका सब से छोटा लड़का पन्ना, मेरी ही उमर का था । हम इकट्ठे खेला करते थे । उन दिनों माँ के कमरे में एक चेस्ट-ड्रार थी, जिसके दराज़ों में कपड़े रहते थे और ऊपर एक सुन्दर कढ़ा मेज़पोश बिछा रहता था, जिस पर कलकत्ते से मँगाया हुआ कट-ग्लास का एक बड़ा ही सुन्दर क्रीमती सेट और दो प्लेटों में कृत्रिम फल और मेवे रखे रहते थे । दूर से तो क्या, पास से भी वे एकदम सच्चे लगते थे । माँ कमरे में होती तो हम दोनों वहीं खेलते । माँ की सख्त हिदायत थी कि हम कमरे की किसी चीज़ को न छुएँ । मुझे तो खैर, माँ ने शुरू ही से सिखा रखा था, पर पन्ना का दिल उन खिलौनों से खेलने को बेतरह मचलता और माँ का डर दिखाकर मैं उसे सदा रोक देता ।

“माँ अपने कमरे में सुबह-शाम ही आतीं । दिन-भर कमरा बन्द रहता । एक दिन जाने कमरा खुला रह गया या शंकर वहाँ से कुछ लेने आया और कमरा खुला छोड़ गया—माँ अचानक कुछ लेने पहुँचीं तो क्या देखती हैं कि पन्ना ने चेस्ट का नीचे का दराज़ आधा खोल लिया है और उस पर चढ़कर वह फलों को उठा रहा है । माँ के पाँव की चाप से वह मुड़ा और भयभीत होकर उतरने लगा तो उसका संतुलन बिगड़ गया और चेस्ट उसके ऊपर उलट चली । माँ लपककर उसे खींच न लेतीं तो वह उसके नीचे आ जाता ।

“बहरहाल, वह तो बच गया, लेकिन कट-ग्लास का वह क्रीमती सेट और फल-मेवों की प्लेटें चूर-चूर हो गयीं । सामान टूटने की आवाज़ सुनकर शंकर भी भागा आया । बात सुनते ही माँ के हाथ से उसने पन्ना को छुड़ा लिया और लगा धड़ाधड़ पीटने ।

“हैं-हैं ! बच्चे को क्यों पीटते हो ?” कहते हुए माँ ने उसे रोका, पर जब क्रोध से पागल शंकर बराबर उसे पीटता ही गया तो पन्ना को

उसके हाथ से छुड़ाकर दो थप्पड़ माँ ने शंकर के जमा दिये, 'अरे, भगवान का शुक्र कर कि लड़का मरते-मरते बच गया ! उल्टा उसे तू पीट रहा है !'

“शंकर स्तम्भित-सा खड़ा रह गया। माँ कभी उसे डाँटती तक न थीं, पीटने की बात तो दूर रही। पर पन्ना को गोद में लेकर माँ जिस तरह से प्यार-पुचकार रही थीं, उसे देखकर शंकर की आँखें भर आयीं। बोला, 'बहूजी, मैं इसे काटकर रख दूँगा, आज इसने फलों को हाथ लगाया है, कल....'

“हाँ-हाँ काटकर रख देगा !' माँ बोलीं, 'चल, वह सब शीशे के टुकड़े बटोर डाल, बच्चों के पैरों में चुभ जायेंगे....मैं इसे समझा दूँगी।'

“और माँ पन्ना को गोद में लिये हुए खाने के कमरे में आयीं और उन्होंने उसे मिठाई दी और समझाया कि बिना पूछे चीज़ को हाथ नहीं लगाते और दो-एक खिलौने जो टूटने से बच गये थे, उसे दे दिये।”

क्षण-भर के लिए नागपाल जी चुप हो गये, जैसे वे उस दृश्य को पुनः अपनी आँखों के सामने देख रहे थे। फिर बोले, “शकुन, माँ की दया-माया की इतनी घटनाएँ मेरे दिमाग में सुरक्षित हैं कि मैं सुनाता चला जाऊँ और वे खत्म न होंगी। जिन लोगों से वे नफ़रत भी करती थीं, अवसर पड़ने पर उनकी भी सुगे-सम्बन्धियों की तरह सहायता करती थीं। मुझे माँ से प्यार ही नहीं, अगाध श्रद्धा थी और मन-ही-मन मैंने तय कर लिया था कि माँ को जीते-जी किसी तरह का दुख न दूँगा। लेकिन मेरा दुर्भाग्य कि मेरे ही कारण उन्हें काफ़ी दुख उठाना पड़ा। उनकी बड़ी इच्छा थी कि मैं शादी कर लूँ, लेकिन मैंने सास-बहूओं की लड़ाई के इतने क्रिस्से सुन रखे

ये कि जब-जब माँ मेरी शादी की बात चलाती, मैं टाल जाता। जब भी वे ब्याह के लिए ज़ोर देती, मैं कहता, 'माँ, यदि बहू कहीं ऐसी-वैसी आ गयी, तुम्हारा ज़रा भी निरादर उसने कर दिया तो मैं सह न सकूँगा !'

माँ हँसती, 'बेटे, बहुओं के आते ही पुत्र माँओं को भूल जाते हैं।'

'मैं बहू लाऊँगा ही नहीं, ब्याह ही नहीं करूँगा !' मैं कहता।

"माँ ने मुझ पर बड़ा ज़ोर दिया, पर मैंने शादी नहीं की और वह चल बसी, अपने बेटे की बहू का मुँह देखने की साध लिये ही...."

क्षण-भर वे चुप रहे। फिर बोले, "मेरी माँ बार-बार कहा करती थी, 'बेटे, तू मुझे नहीं जानता, मैं तेरी बहू को लड़ने का ज़रा भी मौका न दूँगी, और फिर यदि तू बहू के साथ सुखी रहेगा तो मैं अलग रहूँगी तो भी मुझे खुशी होगी !'....मैं जानता हूँ, मेरी माँ का दिल बड़ा उदार था, लेकिन जाने क्यों, मैं डरता था। शकुन, तुम नहीं जानती कि माँ की अनुपस्थिति में मैंने ये दो वर्ष कैसे बिताये हैं ! मेरा खयाल था कि अब मैं शादी नहीं करूँगा....लेकिन मुझे लगा, शादी न करके मैं माँ की आत्मा को दुख दे रहा हूँ।.... मेरी माँ कितनी खुश होतीं !....तुम्हें कैसे लाड़ लड़ातीं !....अपने अपार स्नेह की छाया में तुम्हें कैसे सँजो लेतीं !....तुम इसकी कल्पना नहीं कर सकतीं।"

और तब मन्नो, माँ की कर्मठता, अपार सहृदयता, उदारता, ममत्व, एक-एक बात का उल्लेख करते हुए कई बार उनकी आँखें भर-भर आयीं और कण्ठ आर्द्र हो-हो आया। अपनी रौ में वे सुनाते चले गये और अपना सारा क्रोध-आक्रोश भूलकर मैं सुनती चली गयी और मुझे पता भी नहीं चला, मैं कब उनके साथ बीच का दरवाज़ा पार कर, ड्राइंग-रूम में सास की तस्वीर के सामने जा खड़ी

हुई और माँ की तस्वीर के सामने हाथ जोड़े उन्हें कहते सुनने लगी, “माँ ! तुम्हारी सब से बड़ी इच्छा मेरी बहू को देखने की थी । देखो, मैं आज बहू ले आया हूँ ! देखो वह उतनी ही सुन्दर है, जैसी कि तुम चाहती थीं ! (और उन्होंने मेरा घूँघट तनिक पीछे कर दिया) उतनी ही शीलवान है, जितनी कि तुम चाहती थीं....बहू आ गयी माँ, पर तुम नहीं हो !....माँ, चाहे देह से तुम यहाँ नहीं हो, पर मैं जानता हूँ कि इस घर के कण-कण में तुम्हारी आत्मा बसी है ! आशीर्वाद दो, माँ, कि तुम्हारे बेटे का वैवाहिक जीवन सुखी रहे, कि तुम्हारी बहू तुम-सी बन सके !....”

और जैसे वह चित्र नहीं, उनकी माँ सजीव वहाँ मौजूद हों, वे उनके चरणों में झुके और मैंने अपने-आपको उनके साथ झुकते पाया ।

तभी मैंने उनकी सिसकी सुनी । उनके कंधे हल्के-हल्के काँप रहे थे और उनके दोनों हाथ आँखों पर चले गये थे । तब उन्हें थामकर मैं ही ले आयी, बिस्तर पर मैंने उन्हें लिटाकर आँचल से उनकी गीली आँखें पोंछीं और अपने-आपको कहते पाया, “मैं आपके योग्य नहीं हूँ, लेकिन आपकी माँ की आत्मा को मुझसे किसी तरह की शिकायत न होगी, इतना विश्वास मैं आपको दिलाती हूँ !”

और उन्होंने मुझे बाँह में भरकर अपने सीने से लगा लिया ।

मन्ना, इस बात को दो वर्ष बीत गये हैं और जैसे मुझे उस एक रात की छोटी-से-छोटी बात याद है, जब मैं अपने आवेग की मारी हेमी के कमरे में चली गयी थी, उसी तरह इस रात का भी नन्हे-से-नन्हा ब्योरा मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित है । जाने इस रात मेरे अन्तर में स्नेह का कौन-सा नया सोता फूट पड़ा, जी हुआ कि मैं अपनी दिवंगत सास-जैसी बन जाऊँ और इस भटके शिशु को अपने अंक में भर लूँ ।

इस रात अपने पति के लिए मेरे मन में स्नेह का जो भाव जगा, वह इन दो वर्षों में क्षण-क्षण गहरा होकर मेरे रक्त का अंग बन गया है। अपनी माँ की अपार सहृदयता और सहानुभूति नागपाल जी ने भी प्रचुर मात्रा में पायी है। मैं उनसे हेमी की बात न कहती तो मेरे मन पर बोझ रह जाता। पर सुनकर उन्होंने जो कहा, उससे मेरा मन आर्द्र हो आया, “शकुन नहीं जानता, मैं तुम्हारा प्यार पा सकता हूँ या नहीं, पर मैं कोशिश जरूर करूँगा। और तुम्हें मुझसे कोई शिकायत नहीं होगी।...” और मन्त्रो, मैं अभिभूत हो गयी। मेरे मन का सारा ताप मिट गया और मेरे रोम-रोम से स्नेह भर उठा।....

कभी-कभी सोचती हूँ, क्या वह आवेग सच्चा प्यार था अथवा यह ममत्व? हो सकता है, दोनों सच्चे हों, पर मुझे कभी-कभी लगता है कि वह तो छोटा-सा बरहा था, जिसके किनारे मैं प्यास की मारी जा पहुँची थी, पर जिससे प्यास बुझाकर भी मैं प्यासी ही रह जाती और यह तो निर्मल जल का एक विशाल सरोवर है, जिसने मेरे सारे ताप को हर कर मेरी सदा-सदा की प्यास बुझा दी है।

तुम्हारी,
शक्को।





और मुस्कान

साफ़-सुथरी, सुघड़ लल्लन, जो थके शरीर को दबाने में सिद्धहस्त थी, दर्द की गुठलियों को अजाने पिघला देती थी, जो मृदुभाषिणी थी (पति से कैसे भी झगड़ती हो, पर उनके घर में सदा नम्रता से मिनमिनाती रहती थी) आँजन-मँजी, बड़ी-बड़ी आँखों वाली थी और जिसने न जाने कैसे, अजन्ता की युवतियों की-सी मुद्रा में खड़े होना सीख लिया था। अजन्ता में उन श्यामवर्ण युवतियों को (जो राजकुमारियाँ थीं) मल्होत्रा ने जब उस मुद्रा में देखा था तो उनका यह खयाल था कि यह मुद्रा केवल कलाकार की कल्पना की उड़ान है, लेकिन यहाँ यह लल्लन, यह अपढ़ गँवार मेहतरानी, कभी बिलकुल अजन्ता की युवती-सी लगती थी। बस, अगर उसके बालों का जूड़ा भी वैसा हो, तो कोई अंतर न रहे....लल्लन यहाँ आकर रहे....लल्लन यहाँ आकर रहे....और उनकी कल्पना में लल्लन वहाँ आकर रहने लगी....



नल की चौकोर मेंड पर खाकी-सा लँगोट पहने (जो शायद किसी नेकर का अवशेष-मात्र था) अपनी पतली-पतली टाँगें इत्मीनान से फैलाये, सिर किंचित् झुकाये, हरिया मज्जे से बैठा था और लल्लन उसके बदन पर ज़ोर-ज़ोर से साबुन मल रही थी ।

अपने मित्र प्रोफ़ेसर सेन के घर को जाते हुए मल्होत्रा साहब प्रायः इधर ही से जाते थे । यों वे रेल की पटरी के साथ-साथ जाने वाली सड़क से भी जा सकते थे और साऊथ रोड से भी, पर उन्हें रेलवे के दोमंज़िले क्वार्टरों के बीच से होकर जाने वाली सड़क का यह टुकड़ा बेहद पसन्द था । बायीं ओर दोमंज़िले क्वार्टर थे, जिनमें

मि० मेडली के क्वार्टर की नुक्कड़ पर नौकरों के लिए सार्वजनिक नल लगा था और दायीं ओर दस कोठरियाँ थीं, जिनमें छोटी जातियों के नौकर-पेशा लोग रहते थे, जो क्वार्टरों के आगे बनी दुआरी पर बैठे, प्रायः सभी घरेलू काम करते—औरतें बाल सुखातीं, कपड़े पहनतीं, शृंगार करतीं, नंग-धड़ंग बच्चों को टाट पर उल्टा या सीधा लिटाकर उनके बदन पर तेल मलतीं, अनाज छानतीं-फटकतीं, रसोई पकातीं, लड़तीं-भगड़तीं—यह सरे-बाज़ार इंसान की प्राइव्सी की नुमाइश मल्होत्रा को न जाने क्यों अच्छी लगती। फिर इसी पंक्ति की अंतिम कोठरी में लल्लन रहती थी—लल्लन—उनकी नयी युवा मेहतरानी। यद्यपि अब तो वह भी पुरानी हो चली थी, लेकिन शर्बतिया के संदर्भ में वह उनके लिए अभी नयी थी।

कभी मल्होत्रा छुट्टी के दिन बारह-एक बजे इधर से गुज़रते तो लल्लन नल पर नहा रही होती। कभी गीली धोती में उभरा बदन छिपाती, अपनी कोठरी की ओर आ रही होती। मल्होत्रा उधर देखकर भी न देखते। कभी ऐसे में उसका पति हरिया अपनी कोठरी के आगे बैठा बीड़ी पी रहा होता। उसके सुकड़े-मुचड़े चेहरे पर तस्वीरी चीनियों-सी मूँछें, होंठों के दोनों ओर पूर्ण विरामों-सी लटकी रहतीं। मल्होत्रा साहब को देखकर एक मजबूर-सी मुस्कान उसके होठों पर फैल जाती। उसके पिचके कल्लों में झुर्रियाँ पड़ जातीं, विराम चिह्न ब्रेकेटें बन जाते और वह हाथ की बीड़ी को मुट्ठी में छिपाकर उन्हें सलाम करता। जाने उस मुस्कान में क्या बात थी कि प्रो० मल्होत्रा को इसमें किंचित् बेवसी-मिले विरोध का आभास मिलता। मल्होत्रा साहब कभी उसके सलाम के जवाब में चुप रह जाते, कभी ज़रा-सा सिर हिला देते और कभी हँसकर कहते, “कहो भाई हरिया कैसे हो ?”....लेकिन वे उसका उत्तर सुनने के लिए रुकते

नहीं, लगातार बढ़े चले जाते ।

दूर ही से हरिया के साबुन-लगे शरीर से बिछलती हुई प्रो० मल्होत्रा की दृष्टि लल्लन पर गयी ।—रंग उसका और भी सँवला गया था, बालों की परेशान लटें चेहरे पर लटक रही थीं, आँखों के नीचे छायाएँ सरक आयी थीं और अभी उसकी उम्र पच्चीस के एक साल इधर-उधर ही थी....और मल्होत्रा की आँखों के सामने पिछले कुछ वर्ष पलक झपकते घूम गये और उन्हें उस पहली दोपहरी की याद हो आयी, जब शर्बतिया के पीछे-पीछे लल्लन उनके कमरे में आयी थी ।

अपराह्न तीन-साढ़े-तीन बजे होंगे, मल्होत्रा अपनी स्टडी में बैठे एक थीसिस देख रहे थे कि उनकी पत्नी ने आकर कहा, “शर्बतिया नयी मेहतरानी लायी है ।” और फिर मुड़कर उसे पुकारा था, “आओ शर्बतिया !”

शर्बतिया उनकी पुरानी मेहतरानी थी । कुछ दिन पहले उसने एकाएक नोटिस दे दिया था कि वे लोग गाँव जा रहे हैं और उन्हें छुट्टी दे दी जाय । मल्होत्रा साहब समझते थे कि शायद वह तनखाह बढ़वाना चाहती है, लेकिन जब एक-आध रुपया बढ़ा देने के प्रलोभन पर भी वह टस-से-मस न हुई और मल्होत्रा साहब को विश्वास हो गया कि वे लोग सचमुच गाँव जा रहे हैं तो उन्होंने उससे कहा था कि वह अपनी जगह कोई भरोसे वाली मेहतरानी दे जाय, उसे छुट्टी दे दी जायगी ।

पर्दा उठाकर शर्बतिया अन्दर आयी और उसके पीछे—उसके साथ लगी-लगी—आयी, गोल चेहरे और बड़ी-बड़ी आँजन-मँजी आँखों वाली, धोबी की धुली, छपी साड़ी और रेशमी ब्लाउज़ पहने,

चाँदी की हंसली और बुन्दों में भ्रमभ्रम करती हुई एक साँवले रंग की पतली-छुरहरी युवती। शर्बतिया बेहद गोरे रंग और ऊँचे कद की थी। सुन्दर भी थी और युवा भी। पर उसमें कुछ अजीब-सा ढीलापन था। यह युवती अपनी शयामलता के बावजूद अपने शरीर के गठाव अपनी बड़ी-बड़ी आँखों के फैलाव, वस्त्रों के चुनाव और खड़े होने की कुछ अजब-सी भंगिमा के कारण उससे कहीं सुन्दर लगती थी। वह शर्बतिया के साथ न आयी होती तो मल्होत्रा उसे किसी भले घर की ललायिन या तमोलिन समझते।

‘यह क्या मेहतरानी का काम करेगी!’ उन्होंने मन-ही-मन कहा, लेकिन प्रकट बोले, “क्या नाम है तुम्हारा?”

“लल्लन !”

“तू तो भाई इतनी सजी-सँवरी है, तू क्या यह सब काम करेगी?”

लल्लन शरमा गयी। उत्तर शर्बतिया ने दिया।

“साब, इसकी अभी महीना पहले सादी भई है, काम करने में हुसियार है। आप फिकिर न करें।”

“तुम तो जानती हो शर्बतिया, हमारे यहाँ सब-कुछ खुला रहता है, हमें मेहतरानी भरोसे वाली चाहिए।”

“आप चिन्ता न करें साब, आपको सिकायत न होगी।”

“ठीक है, इसे क्या-क्या काम करना पड़ेगा और कितना रुपया महीना मिलेगा, यह सब तुम इसे समझा दो।”

और दोनों चली गयीं। पत्नी को इशारे से मल्होत्रा ने रोक लिया।

“भई इतनी बनी-सँवरी लड़की—मुझे उम्मीद तो नहीं कि यह ठीक से काम करेगी,” उन्होंने कहा, “शर्बतिया कमबख्त रह जाती तो कितना अच्छा होता?”

“वह तो रुक नहीं सकती,” उनकी पत्नी बोली, “पर उसने विश्वास दिलाया है कि लल्लन काम करने में चुस्त है और भरोसे वाली है। दूर के रिश्ते में वह उसकी ननद लगती है।”

पत्नी चली गयी। मल्होत्रा फिर थीसिस पढ़ने में जुट गये, पर उनकी आँखों में लल्लन की बड़ी-बड़ी आँजन-मँजी आँखें, कमर का बल और कानों के झमझमाते बुन्दे लहराते रहे....कर चुकी काम यह मेहतरानी !

लेकिन उनकी शंका नितान्त निराधार सिद्ध हुई। लल्लन ने न केवल वह काम सम्हाल लिया, जो शर्बतिया करती थी, बल्कि वह कमरों की सफाई भी करने लगी, मल्होत्रा साहब की स्टडी झाड़ने-पोछने, मेज़ का सामान सजाने और रैकों की पुस्तकें ठीक स्थान पर रखने लगी, उनके, उनकी बीवी तथा बच्चों के जूते पालिश करने लगी, रोज़ बदले जाने वाले कपड़े धोने लगी—और जैसे-जैसे वह ज़्यादा काम सम्हालती गयी, उसकी पगार भी बढ़ती गयी। कमोड साफ़ करने के बाद, किसी कपड़े-अपड़े को हाथ लगाने से पहले, वह हमेशा हाथ और कोहनियों तक बाहें साबुन से धो लेती। अपराह्न जब वह आती तो सदा नहाकर साफ़ धोती पहने होती। स्वयं ही वह साफ़ न रहती थी, घर को भी साफ़-सुथरा रखती थी। मिसेज़ मल्होत्रा तो उसके काम से इतनी प्रसन्न थीं कि जब उन्हें मालूम हुआ, सुबह काम कर के वह घर जाती है तो नहाकर खाना पकाती है, तब उन्होंने उसे दो धोतियाँ ले दी थीं, कि उनके घर वह आये तो सदा नयी धुली-धोती पहनकर आये और एक दिन तो उन्होंने अपने पति से यहाँ तक कह दिया कि अगर लल्लन मेहतरानी का काम न करे तो वे उसे घर में ऊपर के काम पर रख लें।

लल्लन को आये हुए चार-पाँच महीने ही हुए थे कि प्रोफ़ेसर मल्होत्रा बुरी तरह बीमार हो गये। फ़रवरी का महीना था, पर धूप में कुछ तेज़ी आ गयी थी। एक दिन उन्हें पीरियड दो बजे लेना था। बारह बजे के करीब उन्हें कुछ ऐसी गर्मी महसूस हुई कि उन्होंने पूरी बाहों का पुलओवर उतार दिया। यूनीवर्सिटी को जाते समय केवल कमीज़ पर कोट पहन गये। उन्हें खयाल था कि केवल एक पीरियड पढ़ाकर धूप-धूप में चले आयेंगे, लेकिन यूनीवर्सिटी की एक सभा में वे पकड़ लिये गये। इस बीच न जाने कहाँ से बादल घिर आये और बूँदा-बाँदी होने लगी। एक सर्दी, दूसरे पानी, तीसरे तेज़ हवा। वे बुरी तरह भीग गये। यद्यपि आते ही उन्होंने सूट उतारकर नयी कमीज़-पतलून, पूरी बाहों का पुलओवर और ओवरकोट तक पहन लिया, लेकिन उन्हें लगातार सीने के दायीं ओर चुभन-सी महसूस होती रही। सारी रात वे खाँसते रहे। सुबह उठने लगे तो उनसे उठान गया। सिर दर्द कर रहा था, गला सूज आया था और शरीर टूट रहा था। थर्मामीटर लगाया तो टेम्प्रेचर १०१ था। डाक्टर को बुलाया तो उसने कहा कि इन्फ़्लुएंज़ा है।

लेकिन इस इन्फ़्लुएंज़े ने कुछ ऐसा पेचीदा रूप धर लिया कि मल्होत्रा दो महीने तक बिस्तर पर पड़े रहे। वो बेहद कमज़ोर हो गये थे। इसी बीमारी में कब लल्लन उनके पैर दबाने लगी, यह उन्हें याद नहीं।

दोपहर को जब वे सोना चाहते और उन्हें नींद न आती और पैरों और पिंडलियों में अजीब-सी कसमसाहट होती, शरीर टूटता और वे बेहद बेचैन हो जाते तो अपनी पत्नी से ज़रा शरीर दबाने को कहते। उनकी पत्नी इंग्लिक्विटव इंजीनियर पिता की इकलौती लाड़ों-पली बेटी थीं; गोरा-गदराया, नर्म-नाज़ुक उनका शरीर और सुकोमल

उनके हाथ थे—वे दबाने की कोशिश करतीं, पर उनके हाथ दुखने लग जाते और मल्होत्रा साहब को ज़रा भी राहत न मिलती और वे भल्ला जाते। तभी लल्लन शाम को सफ़ाई करने के लिए दूसरी बार आती। उसे देखकर मिसेज़ मल्होत्रा कहतीं, “लल्लन ज़रा हाथ धोकर साहब के पैर दबा दे।” और लल्लन उनके पैर दबाने लगती।

लेकिन यह तो बीमारी के पहले दिनों की बात है। बाद में तो मल्होत्रा साहब सीधे उसी से कह देते।

लल्लन यद्यपि पतली-छरहरी थी, पर उसके हाथों में लोहा था। वह पहले उनकी पिंडलियाँ दबाती, फिर टखने, फिर एड़ियाँ, फिर तलवे, फिर उँगलियाँ और नाखून। इन सब के बाद वह उनकी उँगलियों को चटखाकर पूरे-का-पूरा पैर दबा देती। कभी-कभी वह उनके घुटने और कमर भी दबाती। उसके हाथों के स्पर्श से दर्द की गुठलियाँ जैसे चूर-चूर होकर बिखरने लगतीं। साथ ही वह बड़े मीठे स्वर में इधर-उधर की बातें करती और उसकी बातें सुनते-सुनते वे सो जाते।

एक दोपहर लल्लन फिर धोबी की धुली रंगीन धोती पहने आयी। शायद उस दिन उसने उबटम मलकर स्नान किया था। चेहरा उसका चमक रहा था। माथे पर सिन्दूर की बड़ी-सी बिन्दी थी और गाल में पान जमा था, जिसकी लाली से होंठ गीले थे। उस दिन मल्होत्रा साहब को लगा कि उनकी पत्नी ठीक ही कहती है, लल्लन यदि मेहतरानी का काम छोड़ दे, तो सच ही वह ऊपर के काम पर रखी जा सकती है और जब वह उनके पैर दबा रही थी, उन्होंने उससे अपनी पत्नी की इच्छा का जिक्र किया।

“हम तो आ जायँ साब,” लल्लन गम्भीरता से बोली, “पर जमादार नहीं मानेगा।”

और उसने बताया कि जमादार—याने हरिया—एकदम निकम्मा, शराबी और जुआरी है। वह उनके यहाँ से जो पाती है, उसी से घर का खर्च चलाती है। वह तो अपनी तनखाह से कौड़ी भी नहीं देता।

“तुम्हारे बाप ने देख-भालकर न की थी शादी?” मल्होत्रा को सहसा उससे हमदर्दी हो आयी।

“हम तो चार बरस के थे साब, जब हमारी सादी हो गयी थी, गौना अभी भया है।”

“तो क्या तुम को तनखाह भी नहीं देता?”

“देई का साब, उल्टा हमी से माँगत है। नहीं देते तो माँगे दौड़त है।”

“कहाँ उड़ाता है अपनी तनखाह?”

“एक ही हरामी है साब। दारू पियत है और जुआ खेलत है।” लल्लन ने कहा, “कल हँसली माँगत रहा—गिरवी रखने को। हम ने इनकार किया तो उसने हँसली पर हाथ रखा। हम खाना पकावत रहे, चूल्हे से जलती लकड़ी हम ने खींच ली, कि हाथ हटाय ले, नहीं बाँह तोड़ देंगे। तब लगा बाँह छोड़कर गरियाने। हम तो साब सब पैसा-पत्ता अम्मा के रख दिया है।”

तभी मल्होत्रा साहब ने करवट बदली और पेट के बल लेट गये, “लल्लन ज़रा मेरी कमर दबा दे।”

“साब हमको अब छुट्टी दें। अभी हमें सारा काम देखे का है। देर हो जायगी तो जमादार चिल्लायेगा।”

“ज़रा-सा दबा दे।” मल्होत्रा साहब ने बड़ी नमी से कहा, “इस बीमारी ने खून चूस लिया है, ज़रा भी शक्ति नहीं रही।” फिर वे ज़रा हँसे.... “उम्र भी तो ढल गयी है, बुढ़ा हो गया हूँ।”

लल्लन भी हँसी, “अरे साब, अभी कहाँ बुढ़ा हो गया, हमारा जमादार तो देखने में तुम से भी बुढ़ा लगता है।”

“कितनी उम्र है उसकी ?”

“हम से चार-छै साल बड़ा होई।”

“तो मुझसे कैसे बुढ़ा हो गया ? मैं तो चालीसवाँ पार कर रहा हूँ।”

“अरे साब, चालिस-पचास से का होत है। तुम तो अभी दां मादी और कर लो।” और वह हँसी।

“एक ही निभ जाय तो बड़ी बात है।” मल्होत्रा भी हँसे।

लल्लन चुपचाप उनकी कमर दबाने लगी। रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर जो गुठलियाँ-सी पड़ी हुई थीं, लल्लन के हाथों के दबाव से धीरे-धीरे बिखरने लगीं—कमर, नितम्ब, रान—लल्लन दबाती गयी और मल्होत्रा चाहते रहे कि वह दबाती रहे, उनके दर्द की गुठलियाँ पिघलती रहें, एक प्यारी-सी राहत उनके शरीर को मिलती रहे....कि सहसा उसने हाथ खींच लिया, “साब हम जाइत है।”

“अरे ज़रा पैरों की उँगलियाँ तो चटखा दे !” उन्होंने करवट बदली।

लल्लन की आँखों में कुछ अजीब-सा लज्जा का भाव था और उसके गाल तमतमा रहे थे।

“नहीं साब, अब हम जाइत है।”

और वह भाग गयी।

शाम को मल्होत्रा सैर से लौटे तो बँगले के पीछे, गोदाम और किचन की ओर उन्हें कुछ शोर सुनाई दिया।

उनकी तबीयत पहले से काफ़ी बेहतर थी। बुखार उनका पन्द्रह-बीस

दिन पहले टूट गया था। उन्होंने अब भी खाना शुरू कर दिया था और दोपहर को डेढ़-दो घंटे आराम करने के बाद वे थोड़ा घूमने भी लगे थे। शोर सुनकर वे बँगले के पिछवाड़े गये। गोदाम के बराण्डे में, खम्भे की आड़ में, लल्लन खड़ी थी और एक पतला-दुबला, मरियल-सा आदमी बाहर खड़ा चिल्ला रहा था।

मल्होत्रा समझ तो गये कि वह कौन है, पर उन्होंने घुड़ककर कहा, “कौन हो तुम ? क्यों चिल्ला रहे हो ?”

“जी मैं हरिया हूँ।”

“कौन हरिया ?”

“जी आपका जमादार।”

“तो चिल्ला क्यों रहे हो ?”

“जी ये लल्लन....”

वहीं खम्भे के पीछे से लल्लन चिल्लायी, “साब, इहाँ से काम करके जाने में ज़रा देर होइ जात है तो गरियावत है, हाथ उठावत है।”

हरिया कुछ कहना चाहता था कि मल्होत्रा साहब गरजे, “बको मत, भागो यहाँ से।”

शह पाकर लल्लन खम्भे की आड़ से ज़रा-सा निकली, “मारो साब इसके दो जूते।” और फिर हरिया से बोली, “हम ना जाब, यहीं रहब। जा भाग जा !”

नज़र उठाकर मल्होत्रा ने उसे देखा। अपने पति को उसका धमकाना उन्हें कुछ वैसा बुरा नहीं लगा, पर उन्हें उसके दो जूते लगाने के लिए कहना ठीक नहीं जँचा। फिर उनकी नज़र हरिया पर गयी—टूटे बटनों वाली कमीज़ में से उसके धँसे सीने की हड्डियाँ दिखाई दे रही थीं। कमर में उसने मैली-सी लुंगी लपेट रखी थी। सिर और पैर से नंगा था। सुकड़े-मुचड़े चेहरे पर चीनियों-सी मूँछें और कथई

दाँत....कुछ अजीब-सी घिन उन्हें हो आयी और जहाँ लल्लन के लिए उनके मन में कुछ क्रोध उपजा था, वहाँ दोनों को एक नज़र देखकर उससे कुछ सहानुभूति ही हुई। उन्होंने जमादार को डाँटा कि वह अपनी बीवी को मारता-पीटता है, खाने-पीने को देता नहीं, कमाई शराब में उड़ा देता है, कैसे वह उसके घर रहेगी। वह एकदम वहाँ से भाग जाय नहीं तो चार जूते मारेंगे और पुलिस को बुलवाकर हवालात में ऊपर से दे देंगे।

हरिया भट-से उनके पाँव पड़ गया। गिड़गिड़ाने लगा कि वह लल्लन को कुछ नहीं कहेगा, सारी तनखाह लाकर उसके हाथ में रख देगा और शराब एकदम छोड़ देगा।

अब मल्होत्रा साहब क्या कहें, वे सोच न सके। जमादार उनके चरणों में झुका हुआ था....उन्होंने लल्लन से कहा कि वह घर जाय, फिर वह तंग करे तो उनसे कहे। लल्लन ने एक-दो बार इनकार किया, लेकिन फिर उनके समझाने-बुझाने पर वह उसके साथ चली गयी।

मल्होत्रा साहब स्टडी में आ बैठे और मेज़ पर पाँव रखकर स्प्रिंगदार कुर्सी पर पीछे को लेट गये। उनकी पत्नी उनके पीछे-पीछे अन्दर आ गयी।

“लल्लन यहाँ आ रहे तो मैं सच, दूसरी मेहतरानी रख लूँ।” उसने कहा।

मल्होत्रा साहब ने बेपरवाही से पूछा, “रहेगी कहाँ?”

“गोदाम के बराण्डे में।”

“सर्दी न लगेगी।”

“अब सर्दी है कै दिन, अगले महीने लोग बाहर सोने लगेंगे। न होगा, टाट लगा देंगे बराण्डे में।”

“लेकिन वह घर में कैसे रह सकती है?” मल्होत्रा साहब ने कहना

चाहा, “मेहतरानी....हमारे रिश्तेदार....”

लेकिन मिसेज़ मल्होत्रा ने उनकी बात काट दी। उनके इंग्लिष्विद्व इंजीनियर पिता के यहाँ मुसलमान खानसामा था। बोलीं, “ये सब बैरे-खानसामे क्या ऊँची ज्ञातों के हैं ? यही पासी, चमार, जुलाहे या मेहतरों से बने हुए ईसाई। मैं तो जब मालिक-मकान की बीवी को देखती हूँ, मुझे लगता है, वह ज़रूर मेहतरानी से ईसाई बनी है। मिस्टर होल्डन चाहे अंग्रेज़ हों, पर वह काली-कलूटी मेम तो ज़रूर जन्म से मेहतरानी होगी। यह लल्लन उससे कैसे बुरी है ! और हम मिसेज़ होल्डन के यहाँ चाय भी पी लेते हैं और खाना भी खा लेते हैं। लल्लन यह काम छोड़ दे तो मैं उसे ज़रूर रख लूँ।

उनकी पत्नी एक ही साँस में यह सब कह गयीं। प्रो० मल्होत्रा ने कोई उत्तर नहीं दिया। ‘ये औरतें कितनी बेवकूफ़ होती हैं। भावना के आगे यथार्थता को एकदम नज़र-अन्दाज़ कर देती हैं। नाक के आगे चार कदम पर क्या है, यह नहीं देखती।’ उन्होंने क्षण-भर को आँखें बन्द कर लीं। पत्नी की बात उनके कानों में गूँज गयी : ‘लल्लन यहाँ आकर रहे तो मैं दूसरी मेहतरानी रख लूँ’....लल्लन यहाँ आकर रहे....लल्लन यहाँ आकर रहे....सफ़-सुथरी सुघड़ लल्लन, जो थके शरीर को ढबाने में सिद्धहस्त थी, दर्द की गुठलियों को अजाने पिघला देती थी, जो मुदुभाषिणी थी (पति से कैसे भी भगड़ती हो, पर उनके घर में सदा नम्रता से भिनभिनाती रहती थी) आँजन-मँजी, बड़ी-बड़ी आँखों वाली थी और जिसने न जाने कैसे अजन्ता की युवतियों की-सी मुद्रा में खड़े होना सीख लिया था। अजन्ता में उन श्याम-वर्ण युवतियों को (जो राजकुमारियाँ थीं) मल्होत्रा ने जब उस मुद्रा में देखा था तो उनका खयाल था कि यह मुद्रा केवल कलाकार की कल्पना की उड़ान है, लेकिन यहाँ यह लल्लन....यह अपद, गँवार मेहतरानी

कभी बिलकुल अजन्ता की युवती-सी लगती थी। बस अगर उसके बालों का जूड़ा भी वैसा हो, तो कोई अंतर न रहे....लल्लन यहाँ आकर रहे....और उनकी कल्पना में लल्लन वहाँ आकर रहने लगी।....उनकी कल्पना ने एक और छलाँग भरी....लेकिन तभी एक फुरहरी-सी उनके सारे शरीर में दौड़ गयी और वे अचकचाकर सीधे हाँ गये। टाँगें उनकी मेज़ के नीचे आ गयीं, कमर सीधी हो गयी और थीसिस का मसौदा उनके आगे आ गया।

उनकी पत्नी अभी वहीं खड़ी थी। “तुम तो बेवकूफ हो!!” उन्होंने उसकी ओर देखे बिना कहा, “लल्लन कैसी भी साफ़-सुथरी क्यों न हो, कितना भी अच्छा काम क्यों न करती हो, हम जाति-पाँति में कितना भी कम विश्वास क्यों न रखते हों, पर वह यहाँ आकर रहने लगी तो मेरा एक भी रिश्तेदार यहाँ खाना न खायेगा।”

और प्रोफ़ेसर मल्होत्रा थीसिस में डूब गये।

कुछ दिन बाद, एक शाम लल्लन फिर भाग आयी। तब हरिया से बात करने पर मालूम हुआ कि उस शाम के बाद उसने शराब नहीं पी, लेकिन इस पर भी वह सदा लड़ती है....“अब साब हम ग़रीब मेहतर,” हरिया बोला, “धोबी के धुले कपड़े कहाँ पहिन सकित है, बार-बार कैसे हाथ-पैर धोइ सकित है।”

लल्लन से मालूम हुआ कि उसने फिर उस पर हाथ चलाया है और उसके भुमके छीनकर उन्हें गिरवी रख आया है।

इस बार लल्लन का बाप भी पहुँचा और उसे समझा-बुझाकर ले गया।

दूसरे दिन अपराह्न लल्लन मल्होत्रा साहब का शरीर दबा रही थी कि उन्होंने पूछा, “लल्लन, तुम क्यों लड़ती रहती हो रोज़ हरिया

से ?”

“साब दारू पियत है, हमारा जेवर उठाकर गिरवी रख देत है, कुछ कहें तो मारै दौड़त है ।”

“बो तो कहता है कि उसने शराब छोड़ दी है ।”

“खाक छोड़ दिहिस है, अभी रात लड़ा और खूब दारू पी आया ।”

“बात क्या हुई ?”

“कुछ नहीं साब !”....और वह चुप रह गयी ।

“फिर भी ?”....

“साब गन्दा-मन्दा कपड़ा पहने रहत है । बोलित है तो गरियावै लगत है । कहत है—तुम वहीं साब के जा रहो, उनसे कहो तुम्हें बँगला बनाय दें—और खूब दारू पी आवत है । एक ही हरामी है साब....”

लल्लन बड़े मनोयोग से उनकी पिंडलियाँ दबा रही थी । मल्होत्रा साहब क्षण-भर चुप रहे, फिर किञ्चित् हँसकर उन्होंने कहा, “अब तुम उसे अपने निकट न आने दोगी तो लड़ेगा नहीं, दारू न पियेगा और तुम्हारे साथ तुम्हारे साब को भी गाली न देगा ?”

“नहीं साब, आपका गाली कैसे दे सकत है, मजाल है ओकर ।”

मल्होत्रा साहब ने जैसे उसकी बात नहीं सुनी; उसी तरह हँसते हुए ज़रा धीमे स्वर में बोले, “आखिर बात क्या है लल्लन, तुम्हें क्यों नफ़रत है उससे ?”

लल्लन हिचकिचाई, फिर नाक-भौं चढ़ाती हुई सरगोशी में बोली, “साब, बुआत है !”

अब मल्होत्रा साहब क्या कहें, उन्हें सूझ न पाया । एक खोखली-सी हँसी वे हँसे और बोले, “सन्दल-सोप की टिकिया बाथरूम से ले

जा। उसे नहला-धुला। ठीक हो जायगा।”

“साबुन न उसे मलेंगे, जूता मारेंगे!” लल्लन बोली, ‘ऐसे ही हम को तंग करेगा तो हम अपनी माँ के उठ जायेंगे, पंचायत करेंगे और छुट्टी पायेंगे। बापू कहत रहा—दुइ सौ रुपइया ओका देइका परी। मेम साब कहति हैं—लल्लन तुम यहाँ आ जाओ।—मेम साब हमारी कुछ मदत कर दें साब, तो हम उस हरामी से छुट्टी पायें।”

“हाँ, तुम उससे तलाक लेकर किसी दूसरे, अपने मन-पसन्द, साथी के घर जा बैठो।”

“साब, अपने भाग में जब सुख नहीं तो कहाँ मिली। हमारी जात में सब दारू पियत हैं, गरियावत हैं और मेहरारुन का पीटत हैं। आप साब, हमें छुट्टी दिलाय दें तो हम इहाँ आप लोगन की खिदमत करें।”

और लल्लन बड़ी निष्ठा से मल्होत्रा साहब के घुटनों के जोड़ दबाने लगी। घुटनों की चपनियों के दोनों ओर दबाते-दबाते वह ज़रा ऊपर रान दबाने लगी। उसके हाथों के दबाव से मल्होत्रा साहब को बड़ा सुख मिलने लगा। चारपाई की पट्टी के दूसरी ओर की रान दबाने को वह कुछ और झुक गयी थी और बड़ी लगन से दबा रही थी कि सहसा मल्होत्रा साहब ने टाँगें सिकोड़ लीं—“लल्लन अब तुम जाओ, तुम्हें देर हो जायगी।”

“नहीं साब हम दबाय देइत है, तुम सोय जाव!” और तलवे दबाने को उसने उनके पैर खींचे।

“नहीं लल्लन, तुम जाओ। तुम्हें देर हो जायगी तो जमादार चिल्लायेगा। अब मैं ठीक हूँ, सो जाऊँगा।”

लल्लन उनके पैर की उँगलियाँ चटखाने लगी थी कि उन्होंने पैर भी खींच लिया।—“बस अब तुम जाओ!”

और कम्बल ठोड़ी तक ओढ़ कर उन्होंने करवट बदल ली ।

उस दिन के बाद मल्होत्रा साहब ने फिर लल्लन से पैर नहीं दबवाये । उनका कमरा तो वह सदा उनकी अनुपस्थिति में भाड़ती थी, पर खासदान वह प्रायः उनके सामने ही ले जाती । मल्होत्रा कभी उसकी ओर न देखते और काम में तल्लीन रहते । कुछ दिन बाद पत्नी से उन्हें मालूम हुआ कि लल्लन अपने पिता के यहाँ आ गयी है ।.... फिर मालूम हुआ कि हरिया पंचायत बुलाने को कह रहा है । उनकी पत्नी ने सुझाया कि अगर वे दो सौ रुपया दे दें तो लल्लन बेचारी को उस शराबी-जुआरी से छुट्टी मिल जाय ! मल्होत्रा साहब ने पत्नी की बात सुनकर भी नहीं सुनी और काम में लगे रहे ।.... फिर कुछ दिन बाद मालूम हुआ कि हरिया ने पंचायत बुलायी है । फिर पता चला कि उसने पंचों के सामने वायदा किया कि वह शराब नहीं पियेगा और लल्लन के सब गहने भी वापस ला देगा और पंचों और माँ-बाप के ज़ोर देने पर लल्लन अनिच्छापूर्वक हरिया के साथ चली गयी है ।....फिर कुछ दिन बाद खबर मिली कि लल्लन बच्चे से है ।

लल्लन के लड़का हुआ । महीना-भर वह नहीं आयी । इस बीच उसकी माँ और भाभी काम करने को आती रहीं । दोनों गन्दी और मैली-कुचैली थीं । मल्होत्रा साहब की पत्नी उन्हें घर के अन्दर न आने देती । वे बाहर-ही-बाहर सफ़ाई करके चली जातीं । एक दिन लल्लन की माँ मल्होत्रा साहब के सामने पड़ गयी । यद्यपि उसने भट घूँघट सरका लिया तो भी उसका गोरा रंग, तीखा नाक-नकशा और नीली-नीली आँखें उन्होंने देख लीं । 'ज़रूर इसकी नसों में किसी

अंग्रेज का खून है,' उन्होंने सोचा, 'इस इलाके में आज़ादी से पहले अंग्रेज ही तो रहते थे। लल्लन ने अंग्रेज का रंग-रूप चाहे न पाया हो, मिज़ाज ज़रूर पाया है।'

और उनके चेहरे पर एक कुंचित मुस्कान खेल गयी।

लल्लन एक महीने बाद आने लगी। सुबह वह लड़के को माँ के पास छोड़ आती। शाम को कभी उसकी बहन उसे गोद में लिये साथ आती, कभी हरिया उसे कन्धे से चिमटाये आता। मिसेज़ मल्होत्रा को हरिया की सूरत से नफ़रत थी। वे उसे बँगले के अन्दर भी न आने देतीं। वह बच्चे को कन्धे से लगाये बँगले के बाहर गेट की पुलिया पर बैठा रहता। कभी ऐसे में मल्होत्रा साहब यूनीवर्सिटी से लौटते तो वह बच्चे को लिये-लिये उठ खड़ा होता और अपने सुकड़-मुचड़े चेहरे पर मुस्कान की भुर्रियाँ फैलाकर अपने कथई दाँत दिखाता हुआ उन्हें सलाम करता।

मल्होत्रा साहब—'कहो भाई हरिया क्या हाल-चाल हैं' कहते हुए, बिना उसका उत्तर सुने बड़े चले जाते। कभी लल्लन उन्हें रास्ते में मिल जाती अथवा उनके कमरे में खासदान उठाने आती तो उनकी नज़र उस पर पड़ जाती और उन्हें हैरत होती कि बच्चे की माँ होने के बाद भी लल्लन में कोई अंतर नहीं आया—उसके अँगिया-नुमा ब्लाउज़ के नीचे उसकी कमर वैसी ही पतली-छुरहरी थी, उसका पेट वैसे ही पिचका और तना था, सीने का उभार किंचित् बढ़ गया था, रंग निखर गया था....और उनकी आँखों के सामने अपनी पत्नी का चित्र आ जाता, जिसकी कमर एक बच्चे के जन्म के बाद ही अपनी सारी लचक खो बैठी थी।

लेकिन उनकी पत्नी ने फिर कभी लल्लन को घर में आया बनाकर रखने की इच्छा प्रकट नहीं की। उसका अपने बच्चे को साथ

लाना मिसेज़ मल्होत्रा को बेहद अखरता था। लेकिन मल्होत्रा साहब को अब फिर कभी-कभी इच्छा होती कि लल्लन उनके पैर दबाये। गर्मियों की दोपहर में जब उनकी पिंडलियों में कसमसाहट होती और उन्हें नींद न आती तो यह इच्छा और भी बलवती हो उठती। लेकिन दोपहर को जमादार साथ आता था, फिर प्रायः उसका बच्चा बाहर पड़ा रोता रहता, उसे जल्दी काम निबटाकर जाने और बच्चे को दूध पिलाने की जल्दी होती और मल्होत्रा साहब करवटें बदलते रहते।

बच्चे के आगमन के बाद, यद्यपि लल्लन के शरीर में कुछ वैसा अंतर नहीं आया, लेकिन उसका वह सजा-सँवरापन नहीं रहा। मल्होत्रा साहब को उसका वह बच्चा एक आँख न भाता। बच्चा तो बच्चा होता है, चाहे भंगी का हो या चमार का। बच्चा तो गधे का भी कुदक्कड़े मारता हुआ सुन्दर लगता है, पर लल्लन का यह बच्चा मल्होत्रा साहब को ज़रा भी अच्छा न लगता। वह न अपनी माँ पर था न नानी पर। वह अपने बाप पर था या शायद दादा पर, क्योंकि नाक तो हरिया की भी तीखी थी। इस बच्चे की नाक एकदम चौड़ी थी और चेहरा एकदम ठस्स था। लल्लन ने बड़े प्यार से उसका नाम रखा था—रामदुलारे। जब यह रामदुलारे एक साल का हो गया तो लल्लन सुबह भी उसे अपने साथ लाने लगी। वह धरती पर टाट का टुकड़ा बिछाकर एक मैला-सा गद्दा डाल देती और उसे लिटा देती। पास वह अपनी छोटी बहन को बैठा देती और अपना काम देखती। रामदुलारे खूब रोता। छुड़कता हुआ गद्दे और टाट के नीचे मिट्टी में लोटने लगता। नाक उसकी बह कर उसके होंठों पर आ जाती और उस पर मिट्टी लग जाती और मल्होत्रा साहब को उससे बड़ी घिन आती। पहले लल्लन उनकी स्टडी के बाहर पोर्च में उसे लिटा दिया करती थी, फिर मल्होत्रा साहब के कहने पर वह उसे पीछे गोदाम के

बराण्डे में लिटाने लगी। मल्होत्रा जब भी लल्लन को देखते, उनके सामने उसके बच्चे का चित्र आ जाता और वे आँखें फेर लेते। जब तक लल्लन वहाँ रहती, वे कभी बँगले के पिछली ओर न जाते और यदि कभी वह बच्चे को गोद में लिये उनके सामने पड़ जाती तो वे मुँह दूसरी ओर कर लेते।

लल्लन का यह बच्चा तीन बरस का था कि बदलती रूत में उसे खसरा निकल आया। उसे डाक्टर के ले जाने अथवा दवा पिलाने के बदले वह उसे कल्याणी देवी के मन्दिर पर माथा टिकाने ले गयी। मन्दिर में माथा टिकाकर वह गंगा-स्नान करने चली गयी। बच्चा सर्दी खा गया। खसरा बाहर निकलने के बदले अन्दर चला गया और उस समय जब वह समझ रही थी कि खसरे को आराम आ रहा है, वास्तव में बच्चे को निमोनिया हो रहा था। यही निमोनिया डबल निमोनिया में परिणत हो गया और हफ़ता होते-न-होते बच्चा उसके हाथ से निकल गया।

लल्लन हरिया को चाहती हो या न चाहती हो, पर रामदुलारे से बड़ा स्नेह करती थी। उसके प्यार में उसने हरिया के प्रति अपना क्रोध भी लगभग भुला दिया था। हरिया घर में कुछ देता है या नहीं, इसकी चिन्ता उसने छोड़ दी थी। वह दिन-रात अपने रामदुलारे में मगन थी। बच्चे की मृत्यु से वह अवसन्न रह गयी। रोते-रोते वह आधी भी न रही। उसकी आँखों में गड्ढे पड़ गये और शरीर ढलक आया।

इस बार गर्मी बड़े जोर की पड़ी। महीना पहले लू लग जाने से शहर में कई मौतें हो गयीं। मल्होत्रा साहब भी एक दिन लू खा गये और कई दिन तक बुखार में भुनते रहे। जब बुखार उतरा तो

उन्हें बड़ी कमज़ोरी महसूस हुई। गर्मियों में यों भी उनकी पिंडलियाँ दुखने लगती थीं। कमज़ोरी ने और परेशान कर दिया। उनकी जान बेतरह टूटने लगी। एक दिन उन्होंने पत्नी से ज़रा पैर दबाने को कहा, पत्नी ने लल्लन से कहा और वह फिर उनके पैर दबाने लगी। मल्होत्रा साहब ने इस बार महसूस किया कि लल्लन के हाथों का लोहा कुछ नर्म हो गया है। उन्होंने जब उसे कुछ ज़ोर से पिंडली दबाने के लिए कहा तो वह बोली, “साब, अब हम भी बुड्ढा हो गया है। अब वह सकत नहीं रही।”

और वह फीकी-सी हँसी हँसी।

“कहो, अब तुम्हारे जमादार का क्या हाल है!” मल्होत्रा साहब ने बात का रुख बदलकर हँसते हुए कहा, “अब तो नहीं मारता-पीटता, नोचता-खसोटता?”

“वह तो अब घर आवत ही नहीं!” लल्लन के स्वर में जाने कैसी उदासी थी, जो मल्होत्रा साहब के मर्म को छू गयी।

“कहाँ रहता है?” उन्होंने पूछा।

“उधर बाई के बाग चला जात है।”

“बाई के बाग कौन है?”

“कोई कौलिस साब हैं। क्रिश्चियन कालेज में पढ़ावत हैं। उनके मेहतरानी नम्बरी छिनाल है साब, वही के चक्कर में पड़ा है। काम खतम करके वहीं चला जात है। वही को सारी पगार देत है, वहीं खात-पियत है।

लल्लन की आँखों और उसके स्वर में ईर्ष्या की एक क्षीण-सी झलक मल्होत्रा साहब को दिखाई दी।

“तो क्या वह कोई सुन्दर औरत है?” उन्होंने पूछा।

“हम का जानें साब। हम तो कभी ओहर गये नहीं। इतना सुना

है कि हम से दस-बारह बरस बड़ी है। छिनाल है साब, फाँस लिये होई।
इधर साल-भर से जमादार वहीं रहत है।”

मल्होत्रा साहब को उसके स्वर में हल्के-से अरमान का भी आभास मिला। वह चुपचाप उनके पैर दबाती रही और मल्होत्रा साहब उस दूसरी औरत के बारे में सोचते रहे।

प्रो० नोहल कौलिस को वे जानते थे, क्योंकि वे भी इतिहास के अध्यापक थे। मैत्री नहीं थी, परिचय था। एक दिन शाम को वे सेन के साथ प्रो० कौलिस के घर गये। चाय पीते हुए उन्होंने कौलिस के बगले और बागोचे को खूब तारीफ़ की। कौलिस साहब चाय के बाद उन्हें अपने बागोचे में ले गये, “गर्मियों में फूलों की वो बहार कहाँ, जो जनवरी-फरवरी में होती है,” प्रो० कौलिस ने कहा, “लेकिन मैंने पेटूनिया इतनी तरह का लगा रखा है कि दिन-भर रंग-रंग के फूल खिले रहते हैं। फिर जितना बड़ा बेला मेरे यहाँ है, शायद सारे शहर में न हो।”

उनको लुक्मा देने के लिए मल्होत्रा ने सरो-जैसे उन छोटे-छोटे पौदों की प्रशंसा की, जो लॉन की अर्ध-गोलाकार सड़क के दोनों ओर लगे थे और उनका नाम पूछा।

“इसे पूचिया या मॉरपखा कहते हैं,” प्रो० कौलिस ने सोल्लास कहा, “आप देखिए यह कि सब एक-से पौदे हैं। ज़रा छांटे-बड़े नहीं।”

और वे बताने लगे कि कैसे पाँच सौ पौदों में से उन्होंने यह एक-जैसे पौदे छाँट कर गमलों में लगाये हैं।

वे अपने बाग के जूही, मोतिया, चम्पा, सूरजमुखी, ब्लू बबीना और न जाने किस-किस पौदे की तारीफ़ करते रहे। मल्होत्रा साहब ने

कुछ नहीं सुना। योही हूँ-हाँ करते रहे। जब बागीचा और बंगला दिखाते-दिखाते वे पीछे सर्वेंट्स क्वार्टर्स की ओर गये तो सहसा मल्होत्रा साहब की दिलचस्पी जगी। उन्होंने अंग्रेजों की इस आदत की भूरि-भूरि प्रशंसा की कि हर बंगले में उन्होंने नौकरों के लिए जगह रखी, किंचन सदा बंगले से दूर रखा और मल्होत्रा साहब ने इस सिस्टम के न जाने कितने गुण गिना डाले।

प्रोफेसर कौलिस ने उन्हें बताया कि उनके चार नौकर हैं—खानसामा, बैरा, माली और मेहतरानी—और वे सब उनके बंगले ही में रहते हैं।

मल्होत्रा क्वार्टरों के आगे से निकल रहे थे कि वे सहसा एक क्वार्टर के आगे रुक गये। दरवाज़ा खुला था और अन्दर हरिया, आगे कुल्हड़ रखे, एक मोटी-भट्ठी औरत के साथ बैठा था। उन्हें देखते ही उसने कुल्हड़ चारपाई के नीचे सरका दिया।

“अरे हरिया!” चौंकने का अभिनय करते हुए मल्होत्रा बोले, “तुम यहाँ कैसे?” और वे अनायास अन्दर बढ़ गये।

हरिया के सुकड़े-मुचड़े चेहरे पर विराम-चिन्ह ब्रेकेटें बन गये और उसने जल्दी से उठते हुए उन्हें सलाम किया।

मल्होत्रा साहब ने उसके सलाम का जवाब नहीं दिया। उससे हटकर उनकी दृष्टि उसी भट्ठी-मोटी, मैली-कुचैली मेहतरानी पर गयी। लल्लन ने कहा था कि वह उससे दस बरस बड़ी है, लेकिन उन्हें तो वह उसकी माँ के बराबर उम्र की लगी।

“तुम यहाँ क्या कर रहे हो?” उन्होंने सहसा हरिया से पूछा।

नीचे फर्श की ओर देखते हुए उसने जैसे उनके पहले प्रश्न का उत्तर दिया, “अपनी रिश्तेदारी है।”

“इधर आओ ज़रा!” और मल्होत्रा साहब बाहर निकल गये।

कौलिस और सेन से उन्होंने कहा कि उनका मेहतर है और उससे एक जरूरी बात कहनी है।

वे हरिया को कुछ फ्रासिले पर ले गये और उन्होंने उसे डाँटा कि वह अपनी इतनी अच्छी बीबी को छोड़कर इस चुड़ैल के पीछे लगा है। वह न लल्लन को छुट्टी देता है न सुत्र देता है और उन्होंने उसे धमकाया कि अगर उन्होंने फिर उसे वहाँ देखा तो किसी-न-किसी अभियोग में जेल भिजवा देंगे। “तुम जानते हो, पुलिस के बड़े कप्तान मेरे मित्र हैं। थाने में वो बे-भाव की पढ़ेंगी कि सारी तमाशबीनी धरी-की-धरी रह जायेगी। जेल जाओगे अलग और नौकरी से हाथ धो बैठोगे अलग।”

हरिया नीची निगाह किये चुपचाप सुनता रहा।

“क्या कहते हो?” उन्होंने कड़ककर पूछा, “नहीं मानते तो कहीं कौलिस साहब से कि इस चुड़ैल ने यहाँ चकला खाल रखा है।”

“हम मेहतर जात हैं सरकार और लल्लनिया मेमन-जैसी बातें करति है।” हरिया ने शिकायत की।

“अरे तुम्हें साफ़-आफ़ रहने को कहती होगी। वह तुम्हें तंग करे तो हमें बताना। हम उसे समझा देंगे!” मल्होत्रा साहब उसकी पीठ थपथपाते हुए मुड़े।

और दो दिन पहले, उनके पैर दबाते-दबाते लल्लन ने बताया था कि हरिया घर आ गया है और उसने मल्होत्रा साहब से पाँच रुपये माँगे थे कि वह उसके लिए कुर्ता-पायजामा सिलायेगी।

“अपने आदमी को काबू में रखा जाता है।” उन्होंने उसे पाँच का नोट देते हुए समझाया था, “मैंने तुम से पहले भी कहा था कि वह साफ़ नहीं रहता तो तू खुद उसे साफ़ रख। वह कपड़े नहीं

पल्लंग * *

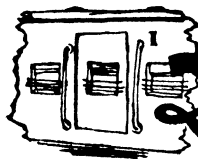
धोता तो तू धो । बाहर खाये-पिये, इससे अच्छा है कि तेरे सामने खाये-पिये ।”

लल्लन उनके पाँव दबाकर चली गयी तो उन्होंने सुना कि वह उनकी पत्नी से बाथरूम में पड़ी ‘अंग्रेज़ी’ साबुन की आधी टिकिया माँग रही है ।

नल तक पहुँचते-पहुँचते मल्होत्रा साहब की आँखों में सारी घटनाएँ कौंध गयीं । तभी हरिया की दृष्टि उन पर गयी । उसके सारे शरीर पर भाग ही-भाग थी, चेहरे पर एक शाहाना मुस्कान थी, जिसमें न पुरानी बेवसी थी न विरोध का भाव और उसने उसी तरह बैठे-बैठे उन्हें सलाम किया ।

मल्होत्रा साहब ने उसके सलाम का जवाब नहीं दिया । उन्होंने एक नज़र लल्लन पर डाली, जो सिर मुकाये बड़े मनोयोग से उसकी पीठ और पसलियों पर साबुन मल रही थी—और एक दिन उसने कहा था—साबुन न मलेंगे, जूता मारेंगे....और मल्होत्रा साहब के अपने होठों पर एक मजबूर-सी मुस्कान फैल गयी ।





शैली डिब्बा

३६ पुलिस वाले पागल को घसीटते हुए स्टेशन-मास्टर के कमरे की ओर ले जा रहे थे कि लाला जी को गाड़ी के साथ घिसटते हुए देखकर पागल ने कहा, “कैसा पागल है, इसको इतना भी पता नहीं था कि फ़र्स्ट-क्लास के डिब्बे में अकेले सफ़र नहीं करना चाहिए। मैं न बताता तो यह मेरी तरह छुट जाता। देखिए इन डाकुओं ने एक कपड़ा भी तो मेरे तन पर नहीं रहने दिया....”



गाड़ी अभी पूरी तरह खड़ी भी न हुई थी कि सुभाष मेरा हाथ छोड़कर भागा। उसने फ्रस्ट-क्लाम की बोगियों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक देख लिया। एक भी सीट खाली न थी। तब वह भागा-भागा इन्क्वायरी क्लर्क खन्ना के पास गया। मालूम हुआ कि एक पैसेंजर को यहीं उतरना था, ऊपर की एक सट खाली होगी। लेकिन बबराहट में दोबारा देखने पर भी सुभाष को कोई सीट खाली न दिखाई दी। तब बाबू ने स्वयं डिब्बे देखे। एक अफ़मर बाथरूम से निकल, शीशे के सामने अपने बाल सँवार रहे थे। उनका चपरासी बिस्तर गोल कर रहा था। उन्हें शायद यहीं उतरना था। खन्ना ने सुभाष को बुलाकर वह सीट दिखाई और कहा कि इस पर आप लाला जी

का बिस्तर लगा दीजिए ।

कुली सुभाष के साथ-साथ बिस्तर लिये घूम रहा था । उससे स्वयं बिस्तर उतरवाकर सुभाष ने सीट पर लगवाया; सीट के नीचे जगह बनाकर ट्रंक रखवा दिये; सुराही एक ओर रख दी और सुख की साँस लेकर माथे का पसीना पोंछता हुआ वह नीचे उतरा ।

“चाचा जी बड़े घबरा रहे थे,” उसने मुझ से कहा, “लेकिन बाबू जान-पहचान वाले हैं ।” और वह हँसा, “सीट यहाँ हमेशा मिल जाती है ।” फिर कुली को पैसे देने के लिए उसने बटुआ खोला ।

तभी सुभाष के चाचा, लाला भगवानदास हाँफते हुए पुल से उतरते दिखाई दिये । आगे बढ़कर मैंने उनसे हाथ मिलाया, “तीन-चार बार तुम्हें फोन किया,” मैंने कहा, “लेकिन हर बार एंगेज्ड मिला । फिर जब कनेक्ट हुआ तो पता चला कि चन्द दोस्तों को लेकर काफ़ी-हाउस गये हो । वहाँ पहुँचा तो मालूम हुआ कि पाँच मिनट पहले निकल गये हो । सुभाष ने बताया कि दिल्ली एक्सप्रेस से जाओगे, सो यहाँ चला आया । कहो कैसे हाल-चाल है ?”

लेकिन लाला जी को किसी का हाल-चाल पूछने या बताने की सुध न थी । उनके चौड़े माथे पर पसीने की बूँदें झलक आयी थीं । हँसता-गोरा मुख हल्की-सी चिन्ता से धुँधलाया हुआ था । पल-भर को रुके बिना, मेरे कन्धे पर हाथ रखकर लगातार चलते हुए वे होंठों में कुछ बुदबुदाये कि उनका तीन दिन का प्रोग्राम था, पर दिल्ली से ट्रंक-काल आ गया, सीट बुक नहीं करायी, सुभाष को भेजा था, पता नहीं सीट मिली या नहीं ।—बातें वे मुझ से कर रहे थे, पर आँखें उनकी न जाने कहाँ थीं, ध्यान उनका यकीनन सीट ही में लगा था ।

मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि सीट मिल गयी है, सुभाष ने सामान रखा दिया है और वे चिन्ता न करें ।

तभी कुली को पैसे चुकाकर सुभाष आ गया। “सीट तो चाचा जी ऊपर की मिली है।” उसने किंचित् निराशा से कहा।

“नीचे की क्यों नहीं मिली?”

“सभी रिज़र्व थीं।”

“यहाँ के लिए भी कुछ सीटें खाली होती हैं। बाबू को कुछ दे-दिला देते।” लाला जी बोले।

“एक घंटा पहले आया था, इनसे पूछिए,” उसने मेरी ओर संकेत किया, “खन्ना मेरा दोस्त है, उसे चाय पिलायी, अण्डा-तोस खिलाये। उसने वादा किया था कि गाड़ी आने दो, मिल जायगी। लेकिन सीटें बुक थीं। नीचे की ओर कोई सीट खाली नहीं थी। मैं खुद सारे डिब्बे देख आया हूँ।”

लेकिन लाला जी को सन्तोष नहीं हुआ। एक बार उन्होंने डिब्बे में जाकर अपनी सीट को देखा, फिर नीचे उतर आये और उन्होंने सुभाष को साथ लेकर खन्ना को जा पकड़ा।

खन्ना कई पैसैजरो में घिरा था। उनमें से रास्ता बनाकर लाला जी उस तक पहुँचे, “क्यों खन्ना साहब, चार सीटें तो यहाँ के लिए भी खाली होती हैं?” उन्होंने कहा।

“हाँ!” बिना लाला जी की ओर देखे खन्ना ने उत्तर दिया।

“क्या सभी बुक थीं?” लाला जी ने पूछा।

“हाँ !...” खन्ना ने उसी तरह बिना उनकी ओर देखे कहा, फिर वह सहसा पलटा, उसने लाला जी को देखा, नमस्कार किया, मुस्कराया और बोला, “क्यों, आपको तो सीट दिलवा दी है?”

“कोई नीचे की सीट मिल जाती....” लाला जी ने लगभग क्रूरियाद के स्वर में कहा।

“आपको शायद अपने ही नीचे वाली सीट मिल जाय।” खन्ना

बोला, “मैंने कण्डक्टर से पूछा है। एक फ़ोर-सीटर पीछे से खाला आया था, लेकिन शायद उसमें कुछ गड़बड़ है। पीछे ही से बन्द आ रहा है। यहाँ शायद उसे खोला जाय। आपके नीचेवाली सीट एडवोकेट-जनरल वर्मा की है। डिब्बा खुल जाय तां वे उधर चले जायँगे, आप नीचे आ जाइएगा।”

लाला जी सन्तुष्ट हो वापस अपने डिब्बे में आये। वर्मा आ गये थे। उनके सहायक बिस्तर खुलवा रहे थे। तब लाला जी ने उनको सुनाकर कहा कि एक डिब्बा पीछे से बन्द आ रहा है। शायद यहाँ खाला जाय। इन्क्वायरी-क्लर्क कह रहे थे कि आपको वहाँ शिफ्ट कर देंगे।

“क्या यह सीट आपकी है ?” सहसा एडवोकेट-जनरल ने लाला जी से पूछा।

“नहीं, पर शायद वहाँ आपको अधिक सुविधा रहे। और तो कोई बुकिंग है नहीं यहाँ से। आप उधर चले जायँगे तो मैं नीचे आ जाऊँगा।”

“आप खुलवाइए बिस्तर !” एडवोकेट-जनरल ने अपने सहायकों से, जो तनिक रुक गये थे, किञ्चित् आदेश-भरे स्वर में कहा, “जो डिब्बा पीछे से बन्द आ रहा है, वो यहाँ खुल ही जायगा, इसका क्या भरोसा है !”

मैं डिब्बे में चला आया था कि लाला जी से कुछ कारबार का हाल पूछूँ, लेकिन एडवोकेट-जनरल की बात सुनते ही अपने शरीर से लगभग मुझे एक ओर धकेलते हुए लाला जी ताबड़तोड़ बाहर नकले। उन्होंने स्वयं गाड़ी देखनी शुरू की। साथ वाली बोगी में ही एक डिब्बा बन्द था, खिड़कियों के शीशे चढ़े थे। लाला जी ने दरवाज़े का हैण्डल घुमाया। अन्दर से बन्द था। एक-आध

धक्का दिया, पर खुला नहीं ।

तब वे फिर भागे-भागे खन्ना के पास गये ।

“मेरे पेट में दर्द है, मुझे रात को दो-चार बार उठना पड़ेगा ।”
उन्होंने कहा, “वह डिब्बा खुलवाइए । वर्मा तो वहीं आराम से
बिस्तर चिछुवा रहे हैं ।”

“मैंने तो स्टेशन-मास्टर को सूचना दे दी थी,” खन्ना बोला, “यहाँ
से जिन लोगों की सीटें बुकड थीं, उन्हें पीछे से खाली आने वाली सीटों
पर जगह मिल गयी । और कोई पैसेंजर था नहीं, इसलिए शायद
किसी ने ध्यान नहीं दिया ।”

और वह लाला जी के साथ आया । बन्द डिब्बे की खिड़कियों
को उसने ठकोरा, दरवाज़े का हैण्डल घुमाया; लाला जी ने स्वयं
बढ़कर ज़ोर की एक लात किवाड़ पर जमायी, लेकिन दरवाज़ा नहीं
खुला । “इसका शायद ताला बन्द है ।” खन्ना बोला, “आपको तो
सीट मिल गयी है, आप जाकर आराम से लेटिए ।”

“मेरे पेट में दर्द है,” लाला जी बोले, “मैं बार-बार उतर-चढ़
नहीं सकता । यह डिब्बा यहाँ खुलना चाहिए ।” और वे सुभाष की
ओर पलटे और उन्होंने आदेश दिया—“सुभाष, भागकर गार्ड को
बुला लाओ और डिब्बा खुलवाओ ।”

सुभाष भागा । लाला जी ने कुली बुलाया और मुझसे कहा कि
ज़रा सामान उतरवा लो और स्वयं डिब्बे में जाकर सुराही उतार
लाये ।

गार्ड ने आकर दरवाज़े में चाबी घुमायी । “ताला तो खुला है ।”
उसने कहा ।

तब लाला जी ने बढ़कर फिर हैण्डल घुमाया और फिर ज़ोर की
एक लात दरवाज़े पर जमायी । दरवाज़ा टस-से-मस नहीं हुआ ।

“यह अन्दर से बन्द है ।” खन्ना ने कहा ।

लाला जी खिड़की की ओर आये । सुभाष से उन्होंने कहा कि पिछली तरफ़ से जाकर दरवाज़ा खोले ।

डिब्बे में बिलकुल अंधेरा था । कुछ भी नज़र न आ रहा था । खिड़की के शीशे से उन्होंने मुँह लगाया तो उन्हें वहाँ स्टेशन का प्रतिबिम्ब दिखाई दिया । किंचित् पीछे हटकर उन्होंने फिर देखने का प्रयास किया तो उन्हें अपनी ही धुँधली-सी शकल दिखाई दी ।

लेकिन लाला जी यों हार मानने वाले नहीं थे । उन्होंने जेब से चाबी निकालकर मेरी ओर फेंकी और बोले कि ज़रा सूटकेस से टार्च निकालो और स्वयं खिड़कियों पर दानों हाथ से मुक्के मारने लगे ।

अन्दर किसी ने सुन-गुन नहीं दी । तभी सुभाष ने आकर बताया कि उधर भी दरवाज़ा बन्द है और खिड़कियों के शीशे चढ़े हुए हैं ।

कुली सूटकेस बाहर रख गया था, मैंने सूटकेस खोलकर टार्च निकाली और लाला जी के हाथ में दे दी । तब टार्च की रोशनी में पता चला कि नाचे सब सीटें खाली हैं, बीच का पंखा चल रहा है और सामने ऊपर की सीट पर कोई व्यक्ति एकदम नंग-धड़ंग सो रहा है ।

और तब धड़ाधड़ दरवाज़ा और खिड़कियाँ पीटी जाने लगीं । आग की तरह यह खबर चारों तरफ़ फैल गयी कि फ़र्स्ट-क्लास के डिब्बे में कोई आदमी नंग-धड़ंग सोया है, और खासी भीड़ डिब्बे के आगे जमा हो गयी है । एडवोकेट-जनरल भी अपने डिब्बे से उतर आये और भीड़ से ज़रा हटकर प्रकट अपने साथियों से बात करने लगे, पर एक आँख उनकी तमाशे पर थी । और कोई पेश चलती न देख, लाला जी ने टार्च की रोशनी उस व्यक्ति पर टिका दी । जब शोर बढ़ता ही गया तो वह आदमी बड़े इत्मीनान से उठा

और उसने एक खिड़की का शीशा नीचे गिरा दिया—बढ़ी हुई दाढ़ी, उलके हुए बाल और शरीर पर परतों मैल ।

“क्यों पागलों को तरह शोर मचा रहे हो !” उसने रोब से कहा, “डिब्बा रिज़र्ड है ।”

“दरवाज़ा खोलो !”

“दरवाज़ा खोलो !”

“दरवाज़ा खोलो !”

एक साथ लाला जी, गार्ड और खन्ना चिल्लाये ।

पागल ने उनकी तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया । आराम से निचली सीट पर बैठकर उसने एक ज़ोर की ज़म्हाई ली । फिर टाँग-पर-टाँग ग़ख़कर लेट गया । तर्भा भीड़ में से किसी ने चाय का खाली कुल्हड़ खींचकर पागल को दे मारा । तब न जाने कहाँ से लोंग चाय के कुल्हड़ ला-लाकर उसको मारने लगे । पागल के तो एक-आध ही लगा, जिसका उसने कोई नोटिस नहीं लिया, पर ज़ोर से खींचकर मारे गये कुल्हड़ का टुकड़ा खिड़की की सलाख से टूटकर एडवोकेट-जनरल के मुँह पर जा लगा । तब उन्होंने लोगों को समझाया कि कानून को अपने हाथों में न लीजिए । पुलिस को बुलाइए । कहीं घपले में पड़ जाइएगा । आपको क्या मालूम है कि यह आदमी पागल है । अगर महज़ कोई शराबी हुआ तो ?... और उन्होंने कानून की कई धाराएँ गिना डालीं कि ईंट-पत्थर मारना ग़ैर-कानूनी है !

भीड़ का जोश क्षण-भर को थमा तो गार्ड को अपने कर्त्तव्य की याद आयी । उसने लाला जी से कहा कि आप किसी दूसरे डिब्बे में सामान रखिए, गाड़ी लेट हो रही है । तब लाला जी ने उन्हें शुद्ध अंग्रेज़ी में एक छोटा-सा लेक्चर पिला दिया कि वे फ़र्स्ट-क्लास पैसेंजर हैं । दूसरे डिब्बे में केवल ऊपर की सीट खाली है । उनके पेट में तकलीफ़

है। ऊपर की सीट पर सोने में उन्हें और दूसरे पैसैजरो को बड़ी असुविधा होगी। रेलवे का फ़र्ज़ है कि डिब्बा खुलवाया जाय और उन्हें नीचे की सीट दिलायी जाय।

लोग पागल के सम्बन्ध में तरह-तरह के क्रयास दौड़ा रहे थे। कुछ लोग एडवोकेट-जनरल से सहमत थे कि वह पागल नहीं, शराबी है। कुछ लोगों का खयाल था कि वह कोई नम्बरी बदमाश है और बे-टिकट सफ़र करने का यह ढंग उसने निकाला है....सब-के-सब दरवाज़ा खुलवाने की तरकीबें भिड़ा रहे थे। शोर मचा रहे थे। धमकियाँ दे रहे थे। लेकिन पागल बड़े इत्मीनान से टाँग-पर-टाँग रखे लेटा हुआ था। तब सुभाष को न जाने क्या सूझी कि उसने सहसा खिड़की की सलाखों से मुँह लगाकर कहा, “ऊपर की सीट उठा दो नहीं दरवाज़ा खुल जायगा।”

पागल उठा और उसने ऊपर की सीट उठाने की कांशिश की।

“नहीं, नहीं,” सुभाष बोला, “सीट मत उठाओ, वह कोने का बटन दबा दो। फिर कोई दरवाज़ा नहीं खोल सकता।”

और पागल ने बटन दबा दिया। गाड़ी में रोशनी हंा गयी।

तब लोगों के उत्साह का ठिकाना न रहा। सब ने कांशिश की कि पागल किसी तरह दरवाज़े की चिटखनी खाल दे। हर तरह घुमा-फिरा कर कहा गया, लेकिन पागल ने और सब किया—एक-एक करके डिब्बे की सब बत्तियाँ जला दीं, पंखा बन्द कर दिया, ऊपर की सीटें उठा दीं—लेकिन चिटखनी नहीं खोली।

तब लाला जी ने उसकी खुशामद की। कहा कि उनके पेट में सख़्त दर्द है, उसकी बड़ी मेहरबानी होगी यदि वह दरवाज़ा खोल देगा।

पागल ने उनकी इस खुशामद पर कोई ध्यान न दिया तो उन्होंने

सहसा जेब से एक रुपये का नोट निकालकर उसकी ओर बढ़ाया और कहा कि दरवाज़ा खोल दो, रुपया मिलेगा।

पागल ने कनखियों से नोट की ओर देखा। फिर हाथ उस ओर बढ़ा दिया।

लाला जी ने सोत्साह नोट आगे बढ़ाया। पागल ने नोट ले लिया, दोनों हाथों में गोल कर, उसका सिगरेट बनाया, होंठों में रख लिया और मज़े में लेटा-लेटा कश खींचने लगा।

भीड़ ने एक ठहाका लगाया। लाला जी खिन्न होकर उसे गालियां देने लगे।

गाड़ी लेट हो रही थी। गार्ड ने सीटी दी और लाला जी से कहा कि वे अपना सामान रखें, वह और नहीं रुक सकता। और वह अपने डिब्बे की तरफ बढ़ा।

बकते-भीखते लाला जी ने कुर्ली को सामान पहले वाले डिब्बे में रखने का आदेश दिया। अभी सामान पूरी तरह रखा भी नहीं गया था कि गार्ड ने दूसरी सीटी दी। लाला जी उच्चकर डिब्बे में चढ़े। सुभाष ने उन्हें सुराही दी ही थी कि गाड़ी चल दी।

लाला जी बेहद असन्तुष्ट थे। वे कोई चीज़ चाहें और वह न हो, यह उन्हें कभी सहन न हुआ था। आज़ादी से पहले अंग्रेज़ का राज था तब भी उनके उचित-अनुचित सब काम हो जाते थे और अब जब देश का शासन गाँधी जी के परम भक्तों के हाथ में था, उन्हें किसी तरह की कठिनाई न होती थी।—‘तेल-तमा जिसको मिले, नुरत नरम हो जाय’—पुश्त-दर-पुश्त गुरुमन्त्र की तरह चली आने वाली पुरखों की इस उक्ति पर लाला जी को भगवान से भी ज़्यादा विश्वास था। लेकिन पागल पर न खुशामद का कुछ असर हुआ था न लालच का। सहसा रेंगती गाड़ी में से उन्होंने सुभाष को निकट

बुलाकर उसके कान में धीरे से कहा, “जिस तरह डिब्बे की बत्तियाँ जलवायी हैं, उसी तरह जंजीर खिंचवा दो।”

सुभाष भागकर पागल वाले डिब्बे के पास गया और गाड़ी अभी प्लेटफार्म से पार भी न हुई थी कि खड़ी हो गयी।

गाड़ी रुकते ही पागल के डिब्बे के सामने फिर भीड़ लग गयी। सबसे पहले लाला जी वहाँ पहुँचे। उनकी आकृति पर उल्लास फूटा पड़ता था। तभी लपके हुए गार्ड और स्टेशन के दूसरे बाबू भी वहाँ पहुँच गये। तब लाला जी ने गार्ड को सुनाकर कहा, “यह तो अच्छा हुआ कि इसने स्टेशन पर ही जंजीर खींच दी। अगर कहीं जंगल में गाड़ी रोक देता तो !”

अब के लाला जी की बात निशाने पर बैठ गयी। गार्ड ने गाड़ी आगे ले जाने से इनकार कर दिया। पुलिस बुलायी गयी, खिड़की की सलाखें तोड़ी गयीं और पागल को बाहर निकाला गया। तभी जब पुलिस पागल को पीटने, लोग तरस खाकर उस गरीब को छुड़ाने और गार्ड तथा स्टेशन-मास्टर गाड़ी लेट होने का कारण लिखने-लिखाने में व्यस्त थे, लाला जी फिर कोई कुली पकड़, अपना सामान उतरवा लाये। सुभाष कुली की मदद से नये डिब्बे में सामान रखवा रहा था कि पागल ने चिल्लाकर कहा, “मैंने कोई जुर्म नहीं किया। फ़र्स्ट-क्लास के खाली डिब्बे में अकेला सफ़र कर रहा था, अन्दर से दरवाज़ा न बन्द किये रखता तो कोई डाकू न घुस आता !”

भीड़ ने ज़ोर से ठहाका लगाया, लेकिन लाला जी का रंग सहसा फ़क हो गया।

“सुभाष इस डिब्बे में सफ़र नहीं करेंगे !” सहसा वे चिल्लाये, “सामान उसी डिब्बे में ले चलो।”

और वे स्वयं डिब्बे में चढ़कर सामान बाहर निकालने में मदद

करने लगे ।

अभी सामान पूरी तरह पहले डिब्बे में वापस न रखा गया था कि गाड़ी चल दी । लाला जी सामान रखवाते, गाड़ी के साथ-साथ चलते जा रहे थे ।

पुलिस वाले पागल को घसीटते हुए स्टेशन-मास्टर के कमरे की ओर ले जा रहे थे और स्टेशन-मास्टर हवा में हाथ हिला-हिलाकर चिल्ला रहा था कि वह उस वक्त तक उसे नहीं छोड़ सकता, जब तक डाक्टर यह सर्टिफिकेट न देगा कि यह आदमी पागल है—गाड़ी के इतना लेट होने की ज़िम्मेदारी तो आखिर उसी की है ! तभी लाला जी को गाड़ी के साथ-साथ घिसटते देखकर पागल ने कहा, “कैसा पागल है ! इसको इतना भी पता नहीं था कि फ़र्स्ट-क्लास के डिब्बे में अकेले सफ़र नहीं करना चाहिए । मैं न बताता तो यह मेरी तरह छुट जाता !....देखिए,” उसने सिपाहियों और स्टेशन मास्टर की ओर संकेत करते हुए भीड़ से फ़रियाद की, “इन डाकुओं ने एक कपड़ा भी तो मेरे तन पर नहीं रहने दिया !”

तभी गाड़ी ने स्पीड पकड़ी । खाली डिब्बे का दरवाज़ा खट्ट-से बन्द हो गया, लाला जी बड़े हास्यास्पद ढंग से उचककर अपने डिब्बे में सवार हो गये और पागल ने जोर का ठहाका लगाया ।





 केशी ने उधर ध्यान नहीं दिया । दोनों हाथों से
 किवाड़ खोलकर वह अन्दर दाखिल हुआ । कमरे में जहेज़
 का सारा सामान गडमड पड़ा था—फ़र्नीचर, ड्रेसिंग-टेबल,
 अलमारी, कपड़ों की गठरियाँ, मेवे-मिठाइयों के थाल ।
 एक ओर वह पलंग भी पड़ा था, जो जहेज़ में आया था
 और उस पर बेशुमार कपड़े लदे थे । दोनों बाहों में भर-भर,
 उसने कपड़े कौच पर पटके । दुल्हन उसके पीछे-पीछे अन्दर
 आ गयी थी । उसकी आँखों में व्यंग्य के बदले फिर भय
 लौट आया था । सहसा पलटकर केशी ने उसे दोनों कन्धों
 से थाम लिया, पल-भर उन सहमी-डरी आँखों में झाँकता
 रहा, फिर सहसा उसने उसे दोनों बाहों में भरकर चूम
 लिया...



दुल्हन की आँखों पर झुकती हुई केशी की निगाहें अचानक पलंग के सिरहाने गोल शीशे में लगे, अपनी माँ के छोटे-से चित्र पर चली गयीं—सुन्दर, नुकीला मुख, बड़ी-बड़ी आँखें, गिलाफ़ी पलकें, पतली-नाज़ुक नाक, तरशे हुए हँसते होंठों में मोतियों की पंक्ति....और सहसा दुल्हन की आकृति पर उसकी माँ की रेखाएँ उभर आयीं ।....दोनों के क्रद-बुत, नाक-नक्शे में कैसा साम्य था !....केशी का मस्तिष्क धुँधला गया । एक तेज़ कँपकँपी उसकी शिराओं में दौड़ती चली गयी । सिर को ज़रा-सा झटका देकर उसने उस चित्र को आँखों से हटाने का प्रयास किया, लेकिन बचपन से लेकर अभी कुछ ही वर्ष पहले तक वह न जाने

कितनी बार इसी तरह माँ के वक्ष पर लेटा था...और वह स्मृति उस क्षण उसके मस्तिष्क के पर्दे पर से होकर निकल गयी और अपनी दुल्हन की फैली-फैली मुग्ध आँखें और गीले-रसीले होंठ चूमने के बदले, वह सहसा बायीं ओर को फिसल पड़ा। चित लेट गया। पल-भर को उसकी निगाहें मच्छरदानी के खाली फ्रेम पर छाये मोतिया के लम्बे हारों पर चली गयीं, उसका हाथ सेज पर बिछी बेले की कलियों पर जा पड़ा और सहसा उसके जी में आयी, वह उछलकर उठे और उस सुगंधित, सुवासित सुहाग-कक्ष से बाहर निकल जाय।

लेकिन वह न उछला, न उठा, चुपचाप लेटा रहा। दुल्हन न जाने क्या समझे, यही खयाल अचेतन में उसे पलंग के साथ बाँधे रहा। सिर को झटका देकर उसने क्षण-भर पहले के चित्र को आँखों से हटाने का प्रयास किया, लेकिन एक के बदले अनेक चित्र एक-दूसरे के ऊपर, बरसाती बादलों-से उमड़े चले आये।

....इसी कमरे में, इसी पलंग पर उसके पापा और ममी साथ-साथ लेटे हैं, बरामदे में पलंगड़ी पर वह पड़ा है और टुकुर-टुकुर उन्हें देख रहा है। पापा के साथ लेटी माँ कितनी छोटी, कितनी सुन्दर लगती है।

....माँ शीशे के आगे बैठी शृंगार कर रही है और वह दरवाजे के पीछे खड़ा चुपचाप उसे देख रहा है। आया जिस परी की कहानी सुनाती थी, वैसी ही सुन्दर तो उसकी माँ है। वह उसे देख लेती है और प्यार से बुलाती है। धरती पर घुटने टेक, पुलकित वह, उसकी गोद में सिर छुपा लेता है। माँ एक हाथ से उसके बाल सहलाती है, दूसरे से अपने बालों में कंधी किये जाती है।

....जाने पापा को क्या हो गया है? एक आदमी रोज़ आता है, उसके गले में दो साँप-से लटक रहे हैं, उनका एक-एक सिरा दोनों

कानों में लगाकर उनका मुँह वह पापा की छाती पर जहाँ-तहाँ रखता है। फिर उनकी बाँह में सुइयाँ चुभोता है। पापा नहीं रोते, पर वह रोने लगता है, ममी उसे छाती से लगा लेती है और दूसरे कमरे में ले जाती है।

....पापा धरती पर लेटे हैं, हिलते-डुलते नहीं, घर में सब रो रहे हैं। वह भी रोता है। माँ रोये जाती है, उसे चूमे जाती है, रोये जाती है। औरतें उसकी चूड़ियाँ तोड़ देती हैं, उसके माथे का सिंदूर पोंछ देती हैं, केशी को उसकी गोद से छीन लेती हैं। वह रोता है, रोये जाता है, रोये जाता है, पर उसे कोई चुप नहीं कराता।

....वही पलंग है। वह अपने पापा की जगह लेटा है। माँ उसके साथ लेटी है। एक सादी-सी सफ़ेद धोती पहने है। सुबह का उजेला कमरे में भाँक रहा है, पर माँ बेसुध सोयी है। वह एक-टक उसे देखता रहता है—पतला नाज़ुक, परियों का-सा मुख, बन्द आँखें, खुले-बिखरे बाल—वह उसे उस शहज़ादी-सी लगती है, जो शापग्रस्त सोयी थी और जिसे शहज़ादे ने आकर जगाया था....वह धीरे-धीरे बढ़ता है और उसे 'किस्सी' कर लेता है। उसकी माँ जग जाती है। बाँह फैला कर उसे अपने सीने से बाँध लेती है और उसका माथा, उसकी आँखें, उसके होंठ चूम लेती है।

....वह अपनी माँ के सीने पर लेटा है। वह उसे राजकुमार की कहानी सुना रही है, जो सात समुन्दर पार से शहज़ादी ब्याह लाया था। कहानी सुनाकर वह उससे पूछती है, 'क्या तू भी ऐसी शहज़ादी से ब्याह करेगा?'

'मैं तुमसे ब्याह करूँगा।'

'दत्त पगले, कभी बेटे भी माँओं से ब्याह करते हैं?'

और वह उसे आश्वासन देती है कि वह उसके लिए अपने ही

जैसी दुल्हन ब्याह कर लायेगी ।

‘मैं फिर यही पलंग लूँगा ।’ वह पलंग के सिरहाने में लगे अपनी माँ के सुन्दर चित्र को देखकर कहता है ।

‘हाँ-हाँ, यह पलंग मैं तुम्हें और तुम्हारी दुल्हन को दूँगी ।’
और वह उसे सीने से लगाकर भींच लेती है ।

“क्या बात है, तबीयत कुछ ठीक नहीं है ?” सहसा दुल्हन करवट के बल होकर उसके माथे और बालों पर प्यार से हाथ फेरती है ।

“नहीं, कुछ नहीं,” सिर के एक हल्के-से झटके से स्मृतियों की शृंखला तोड़, केशी हँसता है—ऐसी हँसी, जो लम्बी साँस-जैसी लगती है ।

उसकी माँ ने तो सच ही कहा था । वैसा ही लम्बा क्रद, सुन्दर मुख, बड़ी-बड़ी आँखें, तीखे नक्श, नाजुक होंठ, मोतियों-से दाँत—माँ उसकी बहू अपने ही अनुरूप लायी थी । हालाँकि जहेज़ में बड़ा सुन्दर पलंग आया था, पर माँ ने, वर्षों पहले किये अपने वादे के अनुसार, वही अपने वाला, बड़ा, कीमती पलंग सुहाग-कक्ष में बिछा दिया था । पलंग क्या, अपना कमरा ही दुल्हन को दे दिया था ।

दुल्हन उस पर झुकी, उसकी आँखों में कहीं दूर भाँकने का प्रयास कर रही थी, जानना चाहती थी कि कुछ क्षण पहले का उसका उत्साह एकदम शिथिल क्यों पड़ गया ? पर यह जानने का उस के पास कोई साधन न था और बड़े संकोच-भरे स्नेह से वह उस पर किंचित् झुकी, उसके बाल सहलाये जा रही थी ।

केशी कुछ क्षण चुपचाप लेटा रहा, फिर उसने सहसा दुल्हन की गर्दन में हाथ डालकर उसे अपने सीने से लगा लिया । कितनी ही देर तक वह उसके सिर को अपने सीने पर रखे उसके बालों, गालों और होंठों को सहलाता रहा, यहाँ तक कि उसके दिमाग से सब जाले

दूर हो गये और सीने पर लेटी दुल्हन और उसके गोरे-गदराये शरीर का गर्मी उसकी नस-नस में समा गयी। उसने धीरे-से उसे चूमकर अपने पहलू में लिटा लिया और उसके गर्म-गुदाज सीने पर सिर रखकर लेट गया। बार-बार उसका मन होने लगा कि वह सिर उठाये, अपनी बीबी को प्यार करे, पर जैसे उस चित्र का सामना करने में उसे संकोच हो रहा था। वहीं लेटे-लेटे बायें हाथ से उसने अपना तकिया उठाकर अन्दाज़ से चित्र के आगे रख दिया। तब उसने सिर उठाया। लेकिन वह चित्र जैसे उस तकिये के पीछे छुपकर और भी नुमायाँ हो गया था और दुल्हन के चेहरे पर किसी दूसरे चेहरे की रेखाएँ बनने लगी थीं.... 'नहीं....नहीं....नहीं!' वह भुँभुलाकर मन-ही-मन चिल्लाया और फिर फिसलकर वैसे ही चित लेट गया। फिर न जाने कैसा बगूला-सा उसके मन में उठा। वह उछला और सुहाग-कक्ष के बाहर हो गया।

बरामदे की झिलमिली से चैत की पूनो बड़ी शरमाई निगाहों से अन्दर झाँक रही थी। क्षण-भर को वह बरामदे की मेहराब में रुका। चुपचाप बाहर फैली चाँदनी में तकता रहा। ठंडी हवा के स्पर्श से उसकी तनी हुई नसों को कुछ अजीब-सी राहत मिली। लेकिन वह पलटा नहीं, बल्कि बाहर निकल आया। दायीं आंर फूलों की रविशों में फ्लागज़ और बबीना खिला था; सामने डेलिया के पौदे, फूलों के भार से झुके, हल्की बयार के स्पर्श से झूल रहे थे। घास के लॉन के साथ कटी-छँटी मेंहदी के पीछे क्यारी में सांसन खिला था और गुलाब की बेल के गिर्द गोल थाले में नेस्ट्रेशियम के ढेरों फूल जैसे उस चाँदनी में नहा रहे थे। अनजाने ही उन रविशों में अटकता-भटकता, फूलों के रंगों को झुककर देखता, बेखयाली में उन्हें छूता, केशी बढ़ता

चला गया। दिन के वक्त जो फूल अपनी रंगीनी से आँखों को चौंधिया देते थे, वे इस शीतल चाँदनी में बड़े ही सुखद, शान्त और तनी हुई नसों को आराम पहुँचाने वाले लग रहे थे। पीला और गुलाबी रंग सफ़ेद-सफ़ेद लग रहा था और गहरा लाल, नीला या जामुनी काला दिखाई देता था। वह कॉटेज की चारदीवारी के पास पहुँचकर वहाँ रुका, जहाँ दीवार के साथ-साथ शुरू-बहार का बेला फूला था। चारदीवारी की छाया के नीम-अँधेरे में, बेले के फूल मोतियों-से चमक रहे थे। पहले कभी जब चाँदनी रातों में वह बेला खिला देखता था तो सदैव कहीं पढ़े अथवा सुने गीत की एक पंक्ति उसके होंठों पर आ जाती थी और वह सहसा गुनगुना उठता था :

बहुत दिनों के बाद खिला बेला, मेरा आँगन महका

आँगन महका

लेकिन आज जब सचमुच उसका आँगन महका था तो वह गीत न जाने विस्मृति के किस गर्त में जा डूबा था। अपने तने हुए मस्तिष्क के साथ वह कॉटेज से गेट तक और गेट से कॉटेज तक चुपचाप घूमता रहा। तभी जब वह दूसरी बार कॉटेज की ओर वापस आ रहा था, उसकी दृष्टि कॉटेज के दूसरे किनारे वाले कमरे के शीशे पर गयी। अन्दर रोशनी थी। उसकी माँ निश्चय ही जाग रही थी। उसकी आंटी और दूसरी औरतें भी जाग रही थीं और शायद उन्हीं के बारे में सोच रही थीं... उसकी माँ ने कितने श्रम और साध से उसका सुहाग-कच्चा सजाया था। सारा दिन किनारे वाले खाने के कमरे में (जिसकी मेज़-कुर्सियाँ बाहर बरामदे में रख दी गयी थीं और जिसमें बहू को उतारा गया था) माँ, आंटी और दूसरी स्त्रियाँ गाना, गुथली, माँग-भराई और मुँह-दिखाई की रस्में पूरी करती रही थीं; साथ के झाड़ंग-

रूम में वह अपने मित्रों में घिरा बैठा रहा था; बराबर के उसके अपने कमरे में दुनिया-जहान के सामान में जहेज़ का सारा सामान और फ़र्नीचर रखा जाता रहा था और इधर के, माँ वाले कमरे को सुहागरात के लिए सजाया जाता रहा था। दसियों रस्मों, मेहमानों की आव-भगत और दूसरे बीसियों कामों में उलझी और कई रातों की जगी, अपनी माँ को उसने निरन्तर इस कमरे में आते-जाते देखा था। आंटी और दूर के रिश्ते की उसकी एक युवा मौसी इस काम में उसका हाथ बटा रही थीं। उसकी माँ के उल्लास का बार-बार न था—जैसे इतने रतजगों, इतनी दौड़-धूप, इतने श्रम, इतने हंगामे की चरम-परिणति बस इसी कमरे की सजावट में थी। वह कई बार बहाने से आया था कि आखिर देखे, उसकी माँ और आंटी वहाँ क्या सजावट कर रही हैं, पर हर बार उसे खदेड़ दिया गया था। रात से पहले उसे उधर भाँकने की भी मनाही थी।

मित्रों से बातें करते, रस्मों में योग देते और औरतों के मज़ाक सुनते हुए केशी की निगाहें बार-बार अपनी माँ के चेहरे पर जा टिकती थीं। यद्यपि उसकी उम्र अब चालीस की होने को आयी थी और गत बाईस वर्षों के वैधव्य ने कुछ अजीब-सा काठिन्य उसकी आकृति पर उभार दिया था और उसकी आँखों के नीचे हल्के स्याह गढ़े बन गये थे, लेकिन सफ़ेद सिल्क की साड़ी में, अपने इकलौते बेटे के विवाह के उल्लास में तमतमाया उसका मुख, केशी को उपस्थित स्त्रियों में सबसे सुन्दर लगता था। उसकी आँखों के गढ़े न जाने किस जादू के प्रभाव से लोप हो गये थे। रस्में पूरी करती और मेहमानों की देखभाल करती हुई वह बीच-बीच में जाकर सुहाग-कक्ष को सजाने में लग जाती। थकन का उसकी आकृति पर कहीं निशान तक न था।

वह जानता था, इतनी थकन और रतजगों के कारण माँ

बीमार पड़ जायगी। उन दिनों प्रायः हर रात सोने से पहले माँ के पास जाकर उसने कहा था, 'माँ, अब सो जाओ!' पर स्वयं सोने के बदले, उसे उसकी चारपाई पर ले जाकर हल्का-सा तेल उसकी कनपटियों पर मल, उसकी भवों को सहला, माँ उसे सुला जाती थी और स्वयं काम में जा लगती थी....केशी को बहुत पहले सिर में तेल डलवाने की आदत पड़ गयी थी। परीक्षा के दिनों में जब वह रात-रात भर पढ़ता था और दिन को एकाध घंटा सोना चाहता था और उसे नींद न आती थी और माँ उसके सिर में तेल लगाती थी तो केशी अपने सिर पर झुके उसके मुख को एकटक देखता रहता और सोता न था, तब माँ प्यार से उसकी आँखें बन्द कर देती थी, उन्हें हल्के-से चूमकर भवों पर अपनी ढीली उँगलियाँ जल्दी-जल्दी चलाती थी और इतना स्नेह उन कोमल उँगलियों में भर देती थी कि उसकी पलकें भारी हो जाती थीं और वह गहरी नींद सो जाता था। केशी ने स्वयं उससे यह कला सीख ली थी। कभी जब थकन अथवा चिन्ता से माँ को नींद न आती थी तो वह खुद उसके सिरहाने बैठकर बड़े ही प्यार से उसकी कनपटियाँ सहलाकर उसे सुला देता था। जब वह छोटा था—तेरह-चौदह बरस का—तो ऐसे में माँ कभी-कभी उसका सिर झुकाकर उसे चूम लेती थी। जब वह बड़ा हो गया—बी० ए०, एम० ए० कर, विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान का अध्यापक हो गया—तो ऐसे में माँ उसका मस्तक चूम लेती थी और केशी बड़े स्नेह से उसे थपथपाकर सुला देता था। वह चाहता था—शादी में आयी हुई स्त्रियों से घिरी अपनी माँ का उठाये और उसे उसके कमरे में ले जाकर गहरी नींद सुला दे। लेकिन वहाँ तो वह मुहाग-सेज सजाने में लगी थी। फूलों की कमी के कारण न जाने उसने कितने आदमियों को कहाँ-कहाँ भेजा था और कितना पैसा पानी की तरह बहाया था। वह उससे

कहना चाहता था—‘माँ, तुम क्यों जान हलकान कर रही हो, तुम्हारा स्नेह इन सारी रस्मों-खुशियों, साज-सिंगार से बड़ा है, मेरे लिए उसका मोल इन सब से कहीं ज्यादा है, तुम बीमार पड़ जाओगी !’ पर वह यह भी जानता था कि वह उसकी एक न सुनेगी। ‘मेरी शादी तो बेटे, कुछ यों ही हुई थी।’ उसने केशी से एक बार कहा था, ‘तुम्हारे पिता मामूली क्लर्क थे और कम्पटीशन में अभी बैठे न थे। मैं नहीं चाहती कि तुम्हारी बहू के मन में कोई साध रह जाय। फूलों का एक गजरा तक न आया था मेरे लिए। तुम ज़रा देखना, तुम्हारी बहू का मुहाग-सेज मैं कैसे सजाती हूँ !’

और जब मुहाग-कच्चा का पर्दा उठाकर उसे अन्दर धकेलती और—‘देखो फ़िलासफ़ी ही न बघारते रहना’—कहती और हँसती हुई आंटी चली गयी थी तो केशी क्षण-भर चकित-सा खड़ा रह गया था।—कमरा उसका चिर-परिचित था, पलंग और दूसरा साज़-सामान भी उसका चिर-परिचित था। माँ ने अपना ड्रेसिंग-टेबिल, अपना शृंगार-दान, अपना पेपरमैशी का कश्मीरी चूड़ी-बक्स, बम्बई से मंगाया हुआ अपना कीमती टेबल-लैम्प—सब कमरे में कुछ इस ढंग से सजा रखा था कि हर चीज़ नुमायाँ दिखाई दे रही थी। लेकिन सब से ज्यादा जो चीज़ कमरे को गुलज़ार बनाये हुए थी, वह थी शुरू-बहार के मोतिये के फूल ! पलंग पर मच्छरदानी न थी, उसके फ्रेम पर छाये हुए मोतिये के लम्बे हार दोनों ओर नीचे तक ऐसे लटके थे कि फूलों की मसहरी-सी बन गयी थी। पलंग पर बेले के फूलों की मोटी चादर बिछी थी और दुल्हन फूलों की देवी बनी, हल्का-सा घूँघट काढ़े, श्वेत, सुवासित चादर पर बैठी थी....

पल-भर के लिए केशी के सामने उसकी माँ के ब्याह का चित्र घूम गया। नहर-विभाग के एक मामूली क्लर्क की दुल्हन, छोटी-सी

कोठरी, मामूली चारपाई, लालटेन की मद्धिम रोशनी और सपनों-सी साधें....! उसके पिता बाद में इग्निक्रिटव इन्जीनियर हो गये थे, घर में किसी चीज़ की कमी न रही थी, पर माँ उस पहली निराशा को कभी न भूली। अपने बेटे का सुहाग-कक्ष अपनी इच्छानुसार सजा, उसने अपनी साधें पूरी कर ली थीं, पर वही सजावट केशी के लिए सुसीबत हो गयी थी—जिधर भी उसकी निगाह जाती, पुराने चित्र आँखों में उभर आते थे।

‘देखना फ़िलासफ़ी ही न बघारते रहना’—सहसा केशी के दिमाग़ में आंटी का वाक्य और उसकी हँसी गूँज गयी।....तो क्या वह अपने ही जाल में फँसा है?....उसकी दुल्हन न जाने क्या सोचती होगी? उसके सामने कई घटनाएँ घूम गयीं, जिनमें पहली रात में पुरुष की कमज़ोरी वैवाहिक जीवन को ले डूबी....लेकिन पहली रात ही पुरुष के लिए अपने को पुरुष सिद्ध करना क्या ज़रूरी है? ये औरतें क्यों इसके लिए इतना तरद्दुद करती हैं? क्या ये सब-की-सब उस माध्यम से अपनी सुहागरात को फिर नहीं जीतीं? तो क्या उसकी माँ भी... उसके सुहाग-कक्ष को सजाने में इतना श्रम करना....अपना पलंग वहाँ रख देना....उसे फूलों से वैसे सजा देना, जैसी कि उसके मन में अपनी सुहाग-सेज को देखने की साध थी और उसके पिता की ग़रीबी और अन्यमनस्कता के कारण जो पूरी न हुई थी....केशी ने सिर को झटक दिया....उसे क्या हो गया है? उसने क्यों कहा था, मैं यही पलंग लूँगा? पर वह तो बच्चा था, क्या उसकी माँ भी बच्चा थी?....

वह वापस बरामदे में आ गया था! सहसा उसने देखा, दुल्हन मेहराब के नीचे खड़ी है।

“तबीयत कुछ खराब है जी?”

“नहीं!”

“क्या मुझसे कुछ कसूर हो गया ?”

केशी का जी चाहा, ज़ोर से ठहाका मारे। एक ही बात उसकी दुल्हन के दिमाग में भी चक्कर लगा रही है। उसकी कमर में हाथ डाल, वह उसे अन्दर ले गया। उसने तय कर लिया कि वह अपने कैम्प्लेक्स को छोड़, वही करेगा जिसकी अपेक्षा कि सब को है। उसने दुल्हन को किंचित् सख्ती से चारपाई पर लिटा दिया। झटके से उसके ब्लाउज़ के बटन खोल दिये। वह उस पर झुका, पर दुल्हन ने तकिये को पुनः उसके स्थान पर रख दिया था, केशी की नज़र फिर अपनी माँ के चित्र पर गयी, उसका दिमाग फिर धुँधला गया। वह उठा। बाहर जाने लगा था कि दुल्हन ने उसका हाथ थाम लिया।

“क्या बात है जी ?”

केशी की दृष्टि बीच के दरवाज़े की ओर गयी। क्या ही अच्छा होता यदि माँ ने इस अपने कमरे में उसकी सुहाग-रात का प्रबन्ध करने के बदले, उसके अपने कमरे में वह सब प्रबन्ध किया होता ! पर अब तो उसका कमरा जहेज़ में आये हुए फर्नीचर और उसके साज़-सामान का गोदाम बना हुआ था और उसकी चाबी भी उसके पास न थी।

बेवसी की एक निगाह उसने बाहर बरामदे में डाली। चाँदनी निरन्तर बरामदे की झिलमिली से भर रही थी। सहसा उसने कहा :

“देखो न, कैसी चाँदनी भर रही है, आओ ज़रा बाहर घूमें।”

दुल्हन उठी; अपने अस्त-व्यस्त क-ड़े उसने ठीक किये; शीशे के पास जाकर एक निगाह उसमें डाली; बालों की दो-एक लटों को ठीक किया और ज़रा-सा घूँघट काढ़कर, केशी के पीछे हो ली।

दो बार बरामदे से गेट तक और गेट से बरामदे तक चुपचाप केशी आया—दुल्हन ने एक-दो बार चाँदनी की प्रशंसा में एकाध वाक्य कहा, पर केशी की चुप्पी देखकर वह भी चुपचाप उसके

साथ चलती रही ।

चैत की चाँदनी सचमुच अदृश्य सुरा-सी नसों में समा रही थी, पर दोनों ही उसकी ओर से बेपरवाह थे । दुल्हन को अपने पति के इस विचित्र व्यवहार से उलझन हो रही थी, अपनी सहेलियों से (जिनमें से कुछ दो-दो बच्चों की माएँ थीं) इस पहली रात और उसके सम्बन्ध में जो कुछ उसने सुन रखा था, वह जैसे उसकी पकड़ में आकर दूर चला जाता था । अपने पति की सुन्दरता, उसकी विद्वत्ता, उसकी कार्य-कुशलता की बड़ी प्रशंसा उसने सुनी थी । विश्वविद्यालय में वह अध्यापक था और उसके पिता ने न केवल उसके साथी अध्यापकों, बल्कि उसके छात्रों तक से उसके सम्बन्ध में कई तरीकों से हर तरह की पूछ-ताछ की थी और पूरी तरह सन्तुष्ट होकर यह रिश्ता पक्का किया था । उसका भावी मंगेतर सनकी है अथवा उसके मस्तिष्क का कोई पुर्जा ढीला है, ऐसा तो किसी ने भी नहीं कहा था । अपने पति के उस विचित्र व्यवहार के सम्बन्ध में सोचती और अपने भविष्य की किंचित् अत्युक्तिपूर्ण दुश्चिन्ताओं में ग्रसी दुल्हन कभी-कभी अपने पति पर दृष्टि डाल लेती और चुपचाप उसके साथ टहले जाती—चाँदनी की ओर उसका ध्यान ज़रा भी न था ।

और केशी का दिमाग एक दलदल बना हुआ था । वह कुछ भी सोच न पा रहा था । दोनों हाथ कमर के पीछे किये, बायें हाथ की कलाई को दायें हाथ से बाँधे, कन्धे तनिक झुकाये, वह चुपचाप घूमे जा रहा था । जब वे दूसरी बार गेट तक पहुँचे तो अचानक केशी ने कहा, “आओ ज़रा बाहर चलें ।”

“रात काफ़ी हो गयी है !” दुल्हन ने हल्का-सा विरोध किया ।

केशी को सहसा अपने एक मित्र की बात याद हो आयी, जिमने कभी अपने नये प्रेम का किस्सा सुनाते हुए उससे कहा था कि पानी की

टंकी से ग्राण्ट ट्रंक रोड के फाटक तक सड़क इतनी एकांत, छायादार और रहस्यमयी लगती है कि प्रेमियों के लिए उससे बेहतर कोई सड़क नहीं।...और वह बोला, “बस ज़रा पानी की टंकी तक जायेंगे।”

केशी बँगले का फाटक खोलकर बाहर निकला। पानी की टंकी कहाँ है, दुल्हन को मालूम न था। वह मौन-रूप से उसके पीछे हो ली। केशी उसे वहाँ की टॉपोग्राफी बताने लगा कि किस प्रकार वहाँ पहले अधिकतर रेलवे के अंग्रेज़ अधिकारी रहते थे, फिर कैसे आज़ादी के बाद वे लोग चले गये और वे बँगले हिन्दुस्तानियों के पास आये। आटे की मिल के पास से गुज़रते हुए उसने बताया कि वहाँ कैसे आटा और मैदा तैयार होता है, कैसे मालिकों ने वहाँ कोल्ड-स्टोरेज बना रखा है, जहाँ वे चालीस हज़ार मन आलू प्रति वर्ष स्टोर करके बेचते हैं। प्रेस के पास पहुँचकर, उसकी खिड़कियों के शीशों में से वह बड़े जोश से रोटेरी मशीन की कार्य-प्रणाली उसे समझाने लगा—किस प्रकार एक ओर से कागज़ खुलता चला जाता है और दूसरी ओर से पूरा समाचार-पत्र छपकर और मुड़कर निकलता जाता है। वह स्टेशन की ओर को चला जा रहा था कि सहसा उसे फिर पानी की टंकी से ग्राण्ट ट्रंक रोड तक के एकांत की याद हो आयी और वह मुड़कर रेलवे फाटक की ओर हो लिया। फाटक बन्द था, लाल बत्ती देखकर केशी ने कहा, “यह फाटक भी एक मुसीबत है। चौबीसों घड़ी कोई-न-कोई गाड़ी गुज़रती रहती है। इतना बड़ा स्टेशन बन गया, लेकिन इस फाटक के भाग नहीं खुले। यहाँ पुल बने तो मुसीबत दूर हो।”

गाड़ी आने में अभी देर थी, बगल के रास्ते से निकलकर वे पानी की टंकी तक आ गये। दायीं ओर सड़क खुली और रौशन थी, बायीं ओर अँधेरी और छायादार। जब केशी उधर मुड़ने लगा तो एक बार फिर दुल्हन ने कहा, “चलिए, अब घर चलें। रात काफ़ी हो गयी है,”

पर केशी ने उसे अपनी दायीं बाँह में ले लिया, “चलो, कुछ दूर तक चलते हैं। कैसी छिदरी चाँदनी सड़क पर फैली है।”

“उस ओर क्यों नहीं गये। बड़ी खुली सड़क है।”

“क्यों, डर लगता है?” और ज़रा हँसते हुए झुककर उसने दुल्हन का माथा चूम लिया।

दुल्हन तड़प कर उसकी बाँह के घेरे से निकल गयी, “क्या करते हैं....सड़क पर....”

केशी ने हँसकर उसे फिर बाँह में ले लिया।

“कौन है यहाँ इस वक्त!” हँसकर उसने उसे चूमना चाहा, लेकिन तभी सामने से तेज़ रोशनी उसकी आँखों में पड़ी और क्षण-भर बाद एक बिना बॉडी का ट्रक घड़घड़ाता हुआ उनके पास से निकल गया। अभी उनकी आँखों की चुँधियाहट दूर भी न हुई थी कि दूसरे की बत्ती आँखों में कौंधी और फिर तो एक के बाद एक—वैसे कितने ही ट्रक गुज़र गये—जाने कहाँ से आ रहे थे और कहाँ जा रहे थे! ‘अच्छी सुनसान अकेली सड़क है!’ केशी ने मन-ही-मन कहा। उसका सारा रोमांस हवा हो गया।

“चलिए अब चलें।” दुल्हन ने, जो पहले ट्रक की बत्ती को देखकर ही उसकी बाँह के घेरे से निकल गयी थी, लगभग रोनक्खे स्वर में कहा, “मैं थक गयी हूँ!”

“यह मेन सड़क है, दिन-रात यहाँ ट्रक और मोटरें घड़घड़ाती हैं।” केशी ने उसे समझाया, “चलो इधर एम-टी लाइन्ज़ की ओर चलते हैं। गिरजे तक बिलकुल सूनी सड़क है।”

“चलिए, मैं थक गयी हूँ।” दुल्हन मिनमिनायी।

लेकिन उसे फिर अपनी बाँह में भरता हुआ केशी मिलिट्री लाइन्ज़ की खुली सड़क पर बढ़ चला।

चाँदनी सड़क की दोनों ओर बँगलों पर चुपचाप भर रही थी । ठहरी निथरी, जैसे चकित ! खुली सड़क, किनारों पर पेड़ों के नीचे प्रकाश-छाया के जाल....तभी कहीं से सुवास का भोंका आया । केशी ने कल्याना की—जाने कहाँ रात की रानी चाँदनी की स्पर्धा में खिली मुस्करा रही है और उसकी हर साँस से सुवास वायु-मण्डल को सुगन्धित बना रही है ।....केशी ने दुल्हन को फिर बाँह में भर लिया और सड़क के किनारे पेड़ों की छाया में हो लिया ।

“क्या बहुत थक गयी हो ?”

दुल्हन ने उत्तर नहीं दिया । अपने शरीर का बोझ उसने अपने पति पर डाल दिया और पेड़ की छिदरी छाया में उसे अपने सीने से लगा, केशी ने उसे चूम लिया ।

तभी परे सड़क से टार्च की रोशनी चमकी । दोनों अलग हो गये । केशी का रंग फ़क् हो गया और दिल धड़क उठा । सहसा उसे याद आया कि एम-टी लाइन्ज़ में बारह के बाद घूमने की इजाज़त नहीं ।

चौदहवीं का चाँद हो, या कि आक्रताब हो ।

जो भी हो तुम, खुदा की कसम, लाजवाब हो ॥

गहरी-हरी वर्दियाँ पहने तीन-चार सैनिक किसी नये फ़िल्म का प्रचलित गाना गाते चाँदनी के बावजूद, टार्च उन पर फेंकते हुए, सड़क से गुज़र गये ।

गाने की पहली पंक्ति सुनते ही केशी ने चाहा था, अपनी दुल्हन को बाहों में भर ले और उसकी आँखों में देखता हुआ गाये :

चौदहवीं का चाँद हो या कि आक्रताब हो !

लेकिन सैनिकों की बदतमीज़ी ने उसकी सारी उमंग ख़त्म कर

दी । उसे एक मित्र की याद हो आयी, जो एम-टी लाइन्ज़ के एक बंगले में अपनी बहन के साथ खाने पर आया था । बातें करते बारह बज गये थे । जब साढ़े बारह के लगभग रिक़शा न मिलने से वह पैदल आ रहा था तो उसे सिपाहियों ने टोका और मित्र को वापस बंगले पर पहुँचकर साबित करना पड़ा कि वह अपनी बहन के साथ वहाँ खाने पर आया था ।....इससे पहले कि दुल्हन घर चलने का अनुरोध करती, केशी वापस फिरा । जब सैनिक ने गाना गाते-गाते टार्च का एक लिशकारा उसकी दुल्हन पर डाला था तो क्रोध के मारे केशी का मन हुआ था कि उसे कालर से पकड़, दो भापड़ उसके जमा दे । पर यदि कोई उससे पूछता—विश्वविद्यालय का वह अध्यापक, अपनी दुल्हन के साथ आधी रात को उस सूने में क्यों घूम रहा है ? तो वह क्या जवाब देता ।....और उसका सारा क्रोध अपनी माँ पर, उस पलंग पर और अपनी मानसिक दुर्बलता पर उमड़ पड़ा ।

वह तेज़-तेज़ चलता वापस आया । दुल्हन उससे तनिक पीछे घिसटती चली आयी । बंगले में पहुँचकर सहसा केशी की चाल धीमी हो गयी, पर दुल्हन नहीं रुकी । तिनतिनाती वह बढ़ी गयी और जाकर पलंग में धँस गयी—केशी जब कमरे में दाखिल हुआ तो वह टाँगें नीचे किये सीधी लेटी थी, साड़ी का पल्लू एक ओर लटका था, प्लाउज़ के खुले गले से उसका गोरा सीना शीशे-सा झलक रहा था । केशी का जी चाहा, वह घुटनों के बल नीचे बैठ जाय और अपना सिर उसकी गोद में रख दे, पर अपनी पत्नी पर से बिछलती उसकी दृष्टि अनचाहे भी अपनी माँ के उस चित्र पर चली गयी और वह अनिश्चित-सा कमरे के बीच खड़ा रहा ।

दुल्हन चुपचाप छत की ओर ताक रही थी और उसकी आँखों में पानी झिलमिला रहा था ।

केशी की दृष्टि सहसा बीच के दरवाज़े पर गयी और उसने कहा :

“यह कमरा तो बाहर से बन्द है न !”

“जी !” दुल्हन ने वहीं छत की ओर देखते हुए उत्तर दिया ।

केशी ने कमरे के दो चक्कर लगाये ।

“इसकी चाबी कहाँ है ?”

“आंटी के पास होगी । सब सामान उन्हीं ने रखवाया था ।”

केशी बाहर निकल, कॉटेज के दूसरे कोने तक गया । माँ के कमरे की बत्ती बुझ चुकी थी । थकी हुई औरतें सो गयी थीं । उसके मन में आया—माँ को जगाये । लेकिन आंटी जग गयी और उसने मज़ाक कर दिया तो....वह वापस फिरा । कमरे में आकर कुछ क्षण घूमता रहा । उसकी निगाह दुल्हन पर गयी—वह उसी तरह लेटी छत की ओर ताक रही थी । सहसा बढ़कर उसने बीच के कमरे का दरवाज़ा पीछे को धकेला । दरवाज़ा अन्दर से बन्द था और नीचे की चिटखनी लगी थी । उसने सोचा था कि यदि केवल ऊपर की चिटखनी लगी होगी तो ऊपर का शीशा तोड़कर खोल लेगा । लेकिन उसकी माँ सदा किवाड़ों की निचली चिटखनियाँ लगाती थी ।

पीछे हटकर उसने दरवाज़े पर एक नज़र डाली—दोनों किवाड़ों में तीन-तीन शीशे लगे थे और फिर लकड़ी का पल्ला था । यदि वह तीसरा शीशा तोड़ दे तो बाँह डालने पर निचली चिटखनी खुल सकती थी । और उसके जी में आया कि जोर का एक मुक्का मार कर शीशे को तोड़ दे । लेकिन थकी-हारी माँ के जग पड़ने का खयाल उसके जोश पर ठंडे पानी का छौंटा बन गया । दोनों मुठियाँ कमर के पीछे बाँधे वह कमरे में घूमने लगा । दो-तीन चक्कर लगाकर, वह फिर दरवाज़े के आगे आ खड़ा हुआ । तभी उसकी दृष्टि दरवाज़े के निचले हिस्से पर गयी । दायें किवाड़ का कोना चोट-खाया था । निकट

जाकर उसने देखा, रौंगन में एक हल्की-सी लकीर साफ़ दिखाई दे रही थी। वह फ़र्श पर बैठ गया। पीठ उसने पलंग की पट्टी से लगा ली और एड़ी का निचला हिस्सा किवाड़ के उस चोट-खाये भाग पर अड़ाकर पूरा जोर लगाया। दरवाज़ा हिला भी नहीं, बल्कि पलंग पीछे को खिसक गया।

छत की ओर देखती हुई दुल्हन उसी तरह लेटी रही। पलंग के हिलने का जैसे उसने कोई नोटिस नहीं लिया। सहसा केशी ने उस पर एक चोर-निगाह डाली। तभी दुल्हन ने उसकी ओर देखा—जाने उन निगाहों में क्या था? एक अत्यन्त सूक्ष्म-सी व्यंग्य की रेखा—जो किसी सनकी के करतब देखने वाले की आँखों में होती है—केशी के सिर पर जुनून सवार हो गया। सोच-समझ की शक्तियाँ उसकी एकदम जवाब दे गयीं। उछलकर वह उठा और बढ़कर उसने जोर का एक मुक्का बीच के शीशे पर दे मारा।

शीशा भनभनाकर टूट गया।

दुल्हन लेटी न रह सकी। किंचित् घबराकर वह उठी और अपने पति के पास आ खड़ी हुई।

“आप क्या कर रहे हैं!” उसने चिढ़कर कहा।

केशी ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी ओर देखा तक नहीं। टूटे हुए शीशे में से बाँह डालकर उसने चिटखनी खोली। उसके शरीर के भार से सहसा दरवाज़ा पीछे को हट गया।

बायें हाथ से किवाड़ थाम, केशी ने धीरे-से, सम्हालकर, बाँह बाहर निकाली। तो भी कुहनी के ऊपर खराश आ गयी।

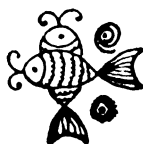
“हाय आप क्या कर रहे हैं!” उसकी फटी कमीज़ से खून रिसते देखकर दुल्हन ने घबराये हुए शिकायत-भरे स्वर में कहा और उसकी डरी-डरी निगाहें सारे कमरे में घूम गयीं कि कहीं कुछ मिले, जिसने

वह घाव पर पट्टी बाँध दे ।

केशी ने उधर ध्यान नहीं दिया । दोनों हाथों से किवाड़ खोल, वह अन्दर दाखिल हुआ । अभ्यस्त उँगलियों से उसने बिजली का बटन दबाया । कमरे में जहेज़ का सारा सामान गडमड पड़ा था—फ़र्नीचर, ड्रेसिंग-टेबल, अलमारी, कपड़ों की गठरियाँ, मेवे-मिठाइयों के थाल । एक ओर वह पलंग भी पड़ा था, जो जहेज़ में आया था और उस पर बेशुमार कपड़े लदे थे । दोनों बाँहों में भर-भर उसने कपड़े कौच पर पटके । दुल्हन उसके पीछे-पीछे अन्दर आ गयी थी । उसकी आँखों में व्यंग्य के बदले फिर भय लौट आया था । सहसा पलट कर केशी ने उसे दोनों कन्धों से थाम लिया, पल-भर वह उन डरी-सहमी आँखों में भाँकता रहा, फिर सहसा उसने उसे दोनों बाहों में भरकर चूम लिया ।

दुल्हन और भी सहम गयी । पर जब उसने अपने पति की आँखों में कर्कशता के बदले अथाह माधुर्य पाया और पति के गर्म होंठों का स्पर्श अपने कानों के नीचे कंठ-भाग पर महसूस किया तो उसके सहमे-डरे अंग ढीले पड़ गये और वह उसके बाल सहलाने लगी ।

तड़के माँ बाहर आयी तो सुहाग-कक्ष का दरवाज़ा चौगाट खुला देखकर चौंकी । दबे-पाँव बढ़कर उसने पर्दा ज़रा हटाया । दिल धक् से रह गया । सजा-सजाया कमरा भाँय-भाँय कर रहा था । तभी उसकी निगाहें बीच के खुले दरवाज़े के निकट फ़र्श पर बिखरे शीशे के टुकड़ों पर गयीं । चोरी की आशंका से घबराकर वह उधर बढ़ी । चौखट में सन्न खड़ी रह गयी—कौच की गद्दियाँ सिर के नीचे रखे, जहेज़ के खुर्रे पलंग पर, दूल्हा-दूल्हन विमुध सोये थे !





ਅੰਬੀਸ਼ੋਰ

~~३३~~ भोला रुका । क्षण-भर को जैसे वहाँ से वह कहीं दूर चला गया । उसका चेहरा एकदम भाव-शून्य हो गया । फिर धीरे-धीरे उसमें रोशनी लौट आयी और फिर सहसा उसकी आँखें चमक उठीं :

“तुम शहनाज़ की बात कर रहे हो ?”

“नाम तो मैं भूल गया हूँ, पर तुम्हें याद होगा— एक रात तुम मुझे ग्रैंड होटल ले गये थे ।”

भोला की आँखों में चमक दुगुनी हो गयी । उसने कहा—“हाँ-हाँ, उस शाम जब हम पहले बीडन रोड के होटल में उस भैंगी गुलाब से मिले थे, फिर ‘ग्रैंड होटल’ गये थे ।”

“हाँ-हाँ !”

“उसी कमबख्त ने तो मुझे तबाह किया !”



हफ्तों से बड़ी दाढ़ी; रूखे-खड़े, तेल और कंधी की कृपा से बेन्याज़, खिचड़ी बाल; मैली, बे-वटन की कमीज़; ढीला फटा कोट; ढीली-ढाली पाइंचों से ढलकती, फटी, पैवन्द-लगी पतलून और जैसे सदियों से घिसे-पिटे बूट !....चपरासी उसे पागल समझकर बंगले से बाहर खदेड़ रहा था कि मुझे देखकर, उसे बाँह से हटाता हुआ वह आगे बढ़ आया।

“हेलो बख़शी !”

उसने तपाक से हाथ बढ़ाया और शुद्ध अंग्रेज़ी में कहा कि मेरा चपरासी एकदम मूर्ख और बदतमीज़ है और उसे तत्काल निकाल देना चाहिए।

अंग्रेज़ी का ऐसा शुद्ध उच्चारण, स्वर में कुछ ऐसा विश्वास.... अजाने मेरा हाथ उस गन्दे-मैले हाथ की ओर बढ़ गया, पर मेरी आँखें उस चेहरे पर निरन्तर पहचान को टटोलती रहीं। पूरे चेहरे में केवल आँखें थीं—तेज़, उद्दण्ड, बेपरवाह (उस बेपरवाही के बावजूद गहरी) जो जानी-पहचानी लगती थीं। शेष सब विस्मृति के धुँधलकों में खो गया था।

“तुम मुझे पहचान नहीं पाये।” उसने कहा, “मैं भोला हूँ। १९३८ में हम माल रोड लाहौर के एक कमरे में तीन महीने इकट्ठे रहे थे।”

“भोला !....हरगोपाल !! यह क्या हुआ तुम्हें ?”....और मैं उसका हाथ थामे ड्राइंग-रूम में आया।

वह लगातार लाहौर के उन दिनों की बातें याद दिला रहा था। उसकी बातों को सुनकर मुझे विश्वास हो गया कि वह पागल नहीं है, क्योंकि वे दिन (जो हमने माल रोड के उस कमरे में गुज़ारे) और उनका एक-एक ब्योरा उसे बखूबी याद था।

अन्दर ड्राइंग-रूम के क्रीमती गद्दे पर वह उसी अधिकारपूर्ण, अभ्यस्त भाव से बैठ गया।

“यह क्या हो गया है तुम्हें ?” मैंने अस्फुट स्वर में कहना चाहा, “तुम्हें तो एम्ब्रसेडर बनना था।”

भोला ने मेरी बात को जैसे सुनकर भी नहीं सुना। उसी शुद्ध अंग्रेज़ी में उसने कहा, “सम्भव हो तो मुझे खाना खिलाओ। दो दिन का भूखा हूँ !”

मैंने चपरासी को बुलाकर कहा—“दक्खीलाल, साहब के लिए खाना लाओ।”

‘साहब’....भोला की आँखों में एक चमक कौंध गयी और फिर एक क्षीण-सी, लगभग अव्यक्त, विद्रूप-भरी मुस्कान उसके होठों पर

खेल गयी ।

चपरासी मुड़ने ही वाला था कि मैंने उसे टोका, “सुनो, रानी माँ से कहना, साहब के एक पुराने दोस्त आये हैं, खाना इधर भेज दें....”

वह फिर मुड़ने लगा था कि मैंने कहा, “यह सेंटर-टेबल सम्हाल कर उधर रख दो, वह तिपाई इधर ले आओ और उधर वाश-बेसिन पर ले जाकर साहब के हाथ धुला दो ।”

“हाथ हमारे सदा के धुले हैं” भोला ने चपरासी से कहा, “तुम खाना ले आओ ।”

चपरासी चला गया ।

मैंने भोला से उसकी ज़िन्दगी के बारे में कुछ जानने की कोशिश की । पर लाहौर के उन दिनों के सिवा, जिनका मुझसे सम्बन्ध था, उसे कुछ भी याद न था । मैं और वह एक बार इकट्ठे आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठे थे । तीन महीने तक एक ही कमरे में रहे थे । मैं तो खैर क्वालीफ़ाई करने वालों में बहुत नीचे था, पर भोला सबसे ऊपर होकर भी फिर ‘वाइवा’ में रह गया था । उन दिनों की बातें सन और तारीखों-समेत उसे याद थीं । शेष के बारे में, हाथ को हवा में बहा देने के अतिरिक्त उसके पास कोई जवाब न था । लगता था जैसे उसके दिमाग के ब्लैकबोर्ड पर, ऊपर के भाग में लाहौर के खाके खिंचे थे, पर नीचे का भाग एकदम खाली था ।

जब मैं पहली बार आई० सी० एस० की प्रतियोगिता में बैठा था और यद्यपि क्वालीफ़ाई तो कर गया, पर लिया न गया था, तो मेरे एक मित्र सुदर्शन ने, जो आई० सी० एस० में आ गया था, मुझे परामर्श दिया—‘देखो बख्शी, तुम्हें एक गुरु बताता हूँ, तुम किसी तरह भोला से दोस्ती करो । बी० ए० में उसने अंग्रेज़ी में रेकार्ड तोड़ा था, आई० सी० एस० की परीक्षा में अंग्रेज़ी में वह सर्वप्रथम

आया है, एग्रीगेट में दूसरे दर्जे पर है, सिर्फ वाइवा में रह जाने से नहीं लिया गया। लेकिन वह आई० सी० एस० होकर रहेगा। मैं उसी की बदौलत सफल हुआ हूँ। तुम किसी तरह उससे दोस्ती गाँठो और उसके साथ, उसी के कमरे में रहने की जुगाड़ कर, परीक्षा की तैयारी करो।'।

मैं डी० ए० वी० कॉलेज का छात्र रहा था और भोला गवर्नमेंट कॉलेज का। गवर्नमेंट कॉलेज के छात्र डी० ए० वी० कॉलेज वालों को खासी उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। इसी कारण मुझे उससे मिलने में संकोच था। फिर मैं अपने चाचा के पास सूत्र-मण्डी में रहता था और भोला काफ़ी-हाउस के बराबर माल रोड की एक तिमंज़िली इमारत के एक कमरे में। उसका कमरा दूसरी मंज़िल पर था। कमरे के बाहर एक खूबसूरत बराण्डा था और उस में कुछ आगे की बढ़ी, एक छोटी-सी बालकनी माल पर खुलती थी। मैंने सुदर्शन से कहा कि वह मुझे उससे मिला दे। सुदर्शन मुझे उसके यहाँ ले गया। उसने मेरी बड़ी प्रशंसा की। और उसी दिन से मैं भोला के यहाँ आने-जाने लगा और मैंने उससे कुछ ऐसी मैत्री स्थापित कर ली कि परीक्षा के तीन महीने पहले मैं उसके यहाँ उठ आया।

भोला के ज्ञान का वार-पार न था। परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के बीसों टोटके उसने मुझे बताये और यदि मैं आखिरकार तीन साल बाद आई० सी० एस० हो गया तो इसमें भोला के साथ गुज़ारे हुए उन तीन महीनों का कम हाथ न था।

चपरासी खाना ले आया तो भोला उस पर पिल पड़ा। उसे इस तरह खाना निगलते देखकर मेरे लिए वहाँ बैठे रहना मुश्किल हो गया। 'तुम खाना खाओ, मैं इतने में कुछ ज़रूरी कागज़ात निबटा लूँ।' कहता हुआ मैं उठा।

भोला ने मेरी ओर देखा भी नहीं। उसने दायाँ हाथ पीठ के पीछे हवा में बहा दिया कि जाओ मजे से काम करो।

मैं दफ्तर में चला आया। दक्खीलाल को बुलाकर मैंने कहा कि देखो, उन्हें पेट-भर खाना खिला देना। किसी बात की कमी न रहने देना।

“साब, यह पगला....साहब (जरूर चपरासी ने मेरी प्रसन्नता के लिए ‘पगला’ के साथ ‘साहब’ जोड़ दिया) तो दिन-दिन-भर चौक और सिविल लाइन में घूमता है, इसीलिए मैं इसको अन्दर न आने देता था !” दक्खीलाल ने कहा।

“तुमने कब देखा उन्हें ?”

“साब हम रोज देखते हैं। डिण्टी साहब के कागज-पत्र लेकर जाते हैं तो इसे देखते हैं। दिन-दिन-भर घूमता है। कभी बैठता नहीं। थकता नहीं। एकदम पगला है।”

“खैर जाओ, उन्हें खाना खिलाओ। वहीं खड़े रहना। कुछ माँगें तो ला देना।”

चपरासी चला गया तो मैंने मन को भोला से दूर ले जाने का प्रयास किया और फ़ाइलें आगे सरका लीं। लेकिन दो-ही-चार निबटायी होंगी कि मन माल रोड के उसी कमरे, बरामदे और बालकनी में चला गया।

एक दिन हम सुबह से कमरे में बैठे-बैठे ऊब गये थे कि शाम से कुछ पहले पुस्तकें हाथों में लिये बालकनी में जा बैठे। लेकिन पढ़ते-पढ़ते शायद थक गये थे, इसलिए बातें करने लगे। आज-कल तो लोग पहली बार के मुक्ताविले ही में आई० सी० एस० में आ जाते हैं, तब ऐसी बात न थी। ऐसे प्रतियोगियों की कमी न थी, जो तीन-तीन बार मुक्ताविले में बैठते थे, पढ़-पढ़कर आँखें खराब कर लेते थे, पर सफल

न हो पाते थे । भोला ने मुझे बताया कि दो चांस उसके और हैं (उसके दूरदर्शी पिता ने उसकी आयु दो साल कम लिखायी थी) पिछली बार की पोलीशन के कारण उसे इग्जिक्टिव अफसर की नौकरी ऑफर हुई है । वह सोचता है कि परीक्षा देने के बाद उसे स्वीकार कर ले । आ गया तो नौकरी छोड़ देगा, न आया तो नौकरी करते हुए तीस साल की उम्र तक लगातार मुकाबिले में बैठेगा और आई० सी० एस० होकर रहेगा ।

मैं उसके आत्म-विश्वास को देखकर दंग रह गया था । मन में मैंने तय कर लिया था कि मैं भी वैसा ही करूँगा । भोला ने मुझे वह गुर न बताया होता तो मैं हतोत्साह हो जाता । पाँचवीं बार प्रति-योगिता में बैठने पर ही मैं आया था । लेकिन तब हँसकर मैंने कहा :

“सरकार अपनी खैर चाहे तो तुम्हें चुप-चाप इस बार ही ले ले ।”

“पर सरकार ऐसी समझदार नहीं” उसने उत्तर दिया ।

और हम दोनों ठहाका मारकर हँस दिये ।

“मैं एक बार आई० ए० एस० में आ जाऊँ,” उसने कहा, “फिर मुझे इग्जिक्टिव काँसिल में जाने से कोई नहीं रोक सकता । और अगर कहीं हिन्दुस्तान को आज़ादी मिल गयी तो मैं एम्बेसेडर होकर दम लूँगा । तुम देख लेना ।”

मैं चकित उसकी ओर देखता रह गया था । मुझे लगा था कि वह सचमुच एम्बेसेडर हो जायगा ।....

मुझे वहाँ रहते एक-डेढ़ महीना हो गया था । इस बीच मैंने देखा कि कभी-कभी कई दिन अनथक काम करने के बाद शाम को बिना बताये वह गायब हो जाता है, रात को ज़रा देर से आता है और फिर दुगुने जोश से काम में लग जाता है । जब मैंने पूछा कि वह कहाँ जाता है तो उसने टालना चाहा । जब मैंने ज़ोर दिया और उसे

विश्वास दिलाया कि मित्रों की बातों को मैं बिना बाहर की हवा लगाये अन्तर्गृहा में छिपाना जानता हूँ तो सहसा उसने कहा, “एक कोठीघर गया था।”

मैं क्षण-भर अवाक बैठा रहा। लगा, जैसे मैंने सुनने में गलती की है। दोहराकर मैंने पूछा, “तुम्हारा मतलब कोठीखाने से है?”

“हाँ, हाँ!”

“यह तुम किस कुदब रास्ते पर चलने लगे,” मैंने कहा, “टिकट लग जायगी मियाँ और सब पी० सी० एस०, आई० सी० एस० धरा रह जायगा।”

“उसका प्रबन्ध कर लिया है।”

और उसने मुझे बताया कि विज्ञान ने बड़ी उन्नति कर ली है, और उसने इस सम्बन्ध में मेरे ज्ञान में यथेष्ट वृद्धि की।

“लेकिन क्या आई० सी० एस० बनकर दम लेने का संकल्प तुम ने छोड़ दिया है?” मैंने पूछा।

“उसी के लिए तो यह सब किया है।”

“क्या मतलब?”

“बात यह है कि मन कई दिन से एकाग्र न हो रहा था—आँखें किताब पर होतीं, पर मन न जाने कहाँ भागा-भागा फिरता। रात नींद न आती। तब मैंने सोचा कि बेचैनी के इस कारण को हटा देना चाहिए। एक-न-एक सेफ़्टी-वाल्व रखना चाहिए। शादी तो मैं कर नहीं सकता और जैसी सामाजिक स्थिति हमारी है, किसी लड़की की छाया तक पास नहीं फटक सकती। सो जब काम में मन लगाना हर तरह से कठिन हो गया तो मैं उठा और हो आया।”

मैं उसकी बातें सुनने के लिए उठकर, लिहाफ़ को अपने ह्र्द-गिर्द लपेट कर, चारपाई पर बैठ गया था। उसका उत्तर सुन कर मैं हँसा

और बोला :

“हो आया तो तुम ऐसे कहते हो जैसे बाथ-रूम हो आये ।”

“मैं इस सब को कुछ वैसा ही समझता हूँ ।”

और कपड़े बदल, बिजली बुझा, सिरहाने की तिपाई का टेबल-लैम्प जलाकर, उसने हाथ में एक किताब ले ली और बिस्तर पर लेट गया ।

“वह सुअर दक्खीलाल जाने कहाँ चला गया । मुझे कुछ रोटियाँ और तरकारी मँगा दो ।”

मैंने सिर उठाया । तरकारी से लिथड़े हाथ लिये हुए भोला दफ्तर में आ गया था । झल्लाकर मैंने घण्टी का बटन दबाया (मन में इस बात पर आश्चर्य भी हुआ कि कैसे उसे एक ही बार सुनने पर दक्खीलाल का नाम याद हो गया ।) दफ्तर के बाहर बैठने वाला चपरासी भागा-भागा आया । “देखो वह कमबख्त दक्खीलाल कहाँ चला गया है ?” मैं चिल्लाया “उससे कहा था कि साहब को खाना खिलाये और कहीं न जाय ।”

“साहब,”—चपरासी ने जर्जर फटे कपड़े पहने भोला की ओर देखा और उसकी निगाहें उसके गंदे हाथों पर चली गयीं ।

और भी झल्लाकर मैं उठा । भोला के कन्धे पर हाथ रखे धड़धड़ाता हुआ मैं अन्दर पहुँचा । उसे मैंने कौच पर बैठा दिया और बँगले के पीछे जाकर दक्खीलाल को बुलाया, उसे डाँटा कि जब उससे कहा गया था साहब को खाना खिलाये तो किधर भाग गया । उसने कुछ कहना चाहा कि रानी माँ ने बुलाया था....पर मैंने उसकी बात नहीं सुनी, उसे आदेश दिया कि साहब को और रोटियाँ और तरकारी लाकर दे और जब तक वे तृप्त न हो जायँ, वहाँ से न हिले ।

चपरासी को आदेश देकर और भोला के कन्धे को थपथपा कर

यह कहता हुआ कि रोटियाँ और सालन अभी आता है, मैं फिर अपने दफ्तर में आ बैठा और कुछ क्षण बड़े जोरों से काम में लगा रहा। लेकिन मन फिर भोला के साथ बिताये हुए उन्हीं दिनों में टामकटोये मारने लगा।

जब भोला ने पहली बार सेफ्टी-वाल्व की बात कही थी तो मैं उसकी मूर्खता पर हँसा था। 'साले को जब टिकट लग जायगी और बैठा अपने घावों को कपड़े से हवा करेगा तो मियाँ को सेफ्टी-वाल्व का भाव मालूम होगा।' मैंने मन-ही-मन कहा था। कुछ देर पढ़ते रहने के बाद भोला सो गया था, लेकिन मैं गयी रात तक उसके बारे में सोचता रहा और पहली बार मुझे खुशी हुई थी कि मेरी शादी समय से कुछ पहले हो गयी और मुझे इस तरह की स्थिति से दो-चार नहीं होना पड़ा। रात सोया तो मैंने देखा कि बीमारी के कारण भोला की नाक भड़ गयी है, फिर उसका शरीर घावों से छलनी दिखाई दिया, फिर मैंने उसे कोढ़ी बने रेल के पुल पर बैठे भीख माँगते देखा और जब मैंने आँखें खोलीं तो पाया कि मैं सोया न था, बल्कि जगा-जगा ही यह सब देख रहा था—

लेकिन जब एक हफ्ते बाद भोला फिर गायब हो गया और आकर अपने कारनामे सुनाने लगा तो मुझे बड़ी उत्सुकता हुई—मैंने उससे अनुरोध किया कि जैसे भी हो, वह एक बार मुझे भी साथ ले चले।

पहले तो उसने टाल-मटोल की, पर जब मैंने बहुत जोर दिया तो वह मान गया। "पन्द्रह-बीस रुपये जब मैं रख लेना," वह बोला, "चले चलेंगे।"

'चले चलेंगे' उसने कुछ ऐसे रिन्द की श्रद्धा से कहा, जिसकी

उम्र उसी दश की सैय्याही में गुजरी हो। हालाँकि सूरत-शक्ल से ज़रा भी न लगता था कि उसने उस गली में कभी पाँव भी रखा है।

“रुपये मैं ले चलूँगा, पर मैं तो सिर्फ देखना चाहता हूँ।” मैंने कहा।

“वहाँ कोई नुमाइश थोड़ी लगी है।” वह हँसा, मैं तो तभी जाता हूँ, जब मेरा दिमाग परेशान होता है और अब तो कम्पीटीशन भी निकट आ गया है।”

लेकिन जब मैंने बड़ी इच्छा प्रकट की तो भोला तैयार हो गया कि दूसरे ही दिन मुझे वह सब दिखा लायेगा।

“पर तुम्हें ऐसे चलना होगा, जैसे तुम हमेशा ऐसी जगहों में आते-जाते हो,” उसने कहा, “उन्हें मालूम हो जाय कि आने वाला सिर्फ तमाशाई है, तमाशाबीन नहीं, तो वे बात भी नहीं करते।”

“इसकी तुम फ्रिक न करो,” मैंने कहा, “कॉलेज के नाटकों में तीन बार मैं इनाम पा चुका हूँ। ऐसा रंग बाधूँगा कि उन्हें ज़रा भी शक न गुजरे।”

दूसरे दिन शाम को मैंने शलवार-कमीज पर ओवरकोट ड़ाँटा, सिर पर एकदम लोफ़रों की तरह नाइट-कैप रख ली और भोला के साथ हो लिया। जो थोड़े-बहुत रुपये पास थे, वे मैंने ट्रंक में रख दिये कि न पैसे पास होंगे न प्रलोभन जगेगा। लेकिन भोला को मैंने कुछ नहीं बताया।

पहले हम बीडन रोड के एक होटल में पहुँचे। भोला इस होटल में पहले आ चुका था, इसलिए काउंटर पर जाकर उसने बड़े धीमे स्वर में जो पूछा, वह मुझे भी सुनाई नहीं दिया। लेकिन उत्तर में बटलर हमें अन्दर एक ऐसे कमरे में ले गया, जहाँ दो निवाड़ी पलंग बीच में बिछे थे और बोला, “अभी हाज़िर होता है।”

“क्या पूछा था तुमने ?” बटलर के जाने पर मैंने कहा ।

“यही कि कुछ ‘माल-वाल’ भी यहाँ मिलता है ?”

“माल से क्या मतलब है, सो क्या यह सब समझते हैं ?”

“हाँ, देसी होटल सब समझते हैं । अंग्रेज़ी होटल हो तो पूछते हैं कि कोई ‘गेम गर्ल’ है या नहीं ?”

तभी एक दरवाज़ा खुला । भोला ने कहा—“देखो, उन्हें बिलकुल मालूम न हो कि हम महज़ तमाशाई हैं ।”

“इसकी तुम चिन्ता न करो, बस देखते जाओ ।”

कहने को तो मैंने उससे कह दिया, पर दिल मेरा बेतरह धड़कने लगा । लेकिन दिल की धड़कन का कोई बिम्ब मैंने अपने चेहरे पर नहीं आने दिया ।

तभी बटलर एक लड़की को लेकर दाखिल हुआ । लड़की लड़की न थी, स्त्री थी, पूर्ण-यौवना—गोरे-गदराये, स्वस्थ, सुन्दर शरीर वाली । उम्र उसकी तीस के करीब होगी । कद में भोला से तो दो इंच बड़ी ही थी । मेरे बराबर होगी । और तो सब ठीक था, लेकिन उसकी आँखों में हल्का-सा ऐंचापन था और इस दोष ने उसकी सारी सुन्दरता को हर लिया था ।

बटलर उसे कमरे में छोड़कर चला गया । पल-भर तक खामोशी छायी रही ।

और उस एक पल में मेरे मन में यह विचार कौंधा कि मैं कहाँ आ गया हूँ ? कि उस लड़की की सुन्दरता को यों देखने-परखने का मुझे क्या अधिकार है ? यह ठीक है कि मेरे कोई बहन नहीं; बीवी मेरी घर में बैठी, मेरे आई० सी० एस० होने की प्रतीक्षा में विरह का दुख भेल रही है । इस ऐंचातानी से सुन्दर भी है । पर यह भी तो किसी की बहन या बीवी है । जाने क्यों, किस कारण, उस होटल में आने को मजबूर

हुई है !....

तभी भोला ने धीरे-से पूछा, “तुम्हारा नाम क्या है ?”....और मुझे अपने कर्तव्य का भान हो आया ।

“गुलाब !” युवती ने अपनी ऐंची आँखों को धरती में गाड़ते और ज़रा शरमाते हुए कहा ।

भोला को फिर कुछ नहीं सूझा । या शायद वह कुछ असमंजस में पड़ गया । लड़की की आँखें मेरी ओर उठीं और कुछ चौंककर, आँखों में रिन्दों की-सी मस्ती लाकर मुस्कराते हुए मैंने शेर पढ़ा :

**नहीं खिले हैं रुख़े यार पर गुलाब फ़क़त
गुलाब बन के बदन उसका मुस्कराता है ।**

“ज़रानिवाज़ी है !” लड़की की कृत्रिम लज्जा एक बेबाक मुस्कान में बदल गयी । अपनी ऐंची आँखें मेरी ओर उठाकर उसने आदाब किया ।

तभी बटलर अन्दर आया और उसकी आँखें प्रश्न के रूप में उठीं । इससे पहले कि भोला कुछ कहता, मैंने गुलाब को इशारा किया कि वह ज़रा बाहर जाय ।

वह चली गयी तो मैंने बटलर के निकट जाकर, टोपी को ज़रा और झुकाते और बायीं आँख को दबाते हुए कहा, “यार ज़रा उसकी और हमारी उम्र का तो कुछ खयाल किया होता । कोई चूज़ा लाओ । यह क्या कुड़क मुर्गी ले आये हो ।”

“इस वक़्त तो यही है ।” बटलर ने कुछ रुखाई से कहा ।

“अच्छा तो फिर आयेंगे । बाई बाई ।” और मैं हाथ उठाते हुए चल दिया, जैसे मैं भोला के साथ नहीं आया था, भोला मेरे साथ आया था ।

बाहर आकर भोला ने कहा, “माल तो अच्छा था यार।”

“हटाओ जी !” मैं वितृष्णा से बोला, “मेरा तो जी धुट गया उस फ़िज़ा में।”

“लेकिन तुम्हारे चेहरे पर उबाहट तो ज़रा नहीं दिखाई दी,” भोला ने कहा, “तुमने तो ऐसे एकट किया जैसे बरसों से इन गलियों की खाक छान रहे हो।”

“बस एकट ही किया, नहीं जी चाहता था कि चुपचाप उठूँ और चल दूँ। चलो अब वापस चलें।”

लेकिन शायद खाना देखकर भोला की भूख जग आयी थी। उसने कहा, “नहीं, नहीं, चलो तुम्हें ‘ग्रैंड होटल’ दिखा लायें।”

“देख लिया। मेरी इच्छा पूरी हो गयी।”

लेकिन भोला की इच्छा बलवती हो उठी थी। जितना ही मैं घर चलने पर ज़ोर देने लगा, वह ‘ग्रैंड होटल’ चलने का अनुरोध करने लगा। “तुम कुछ न करना, बस देखना।” उसने कहा और फिर कुछ खिजलाहट से बोला, “कहाँ तो इतना ज़ोर दे रहे थे और कहाँ अब बच्चों की तरह जल्दी मचाने लगे हो। होटलों ही से घबरा गये, यहाँ तो दसियों कोठीखाने हैं।”

उत्सुकता मेरी सचमुच शान्त हो गयी थी, पर भोला को मैं ही उखाड़ लाया था, इसलिए उसका साथ छोड़कर वापस चल देना अनुचित लगा। मैं उसके साथ स्टेशन रोड की ओर चल दिया। मैंने कहा कि वह चाहे जो करे, मैं चुपचाप बैठूँगा।

“अरे तुम चलो तो,” वह बोला, “मामले की बात जब आयेगी, तुम्हें कमरे से बाहर भेज दूँगा। यहाँ तो मैं कुछ बोला ही नहीं। ज़रा अब देखना ! शेर-वेर तो मुझे आते नहीं, लेकिन....” और उसने आँख दबायी।

लेकिन मेरा दिमाग ऊबड़-खावड़ मार्गों में भटक रहा था। मैंने भोला की बात नहीं सुनी। लगभग दो मील पैदल चलकर (रास्ते में बातें प्रायः भोला ही करता रहा) हम रात के लगभग सवा नौ बजे 'ग्रैंड होटल' पहुँचे। बड़ी भव्य इमारत थी। दोनों गेटों पर अर्ध-चन्द्राकार बोर्डों पर अंग्रेज़ी में 'ग्रैंड होटल' लिखा हुआ था। लेकिन बार का टाइम खत्म हो जाने के कारण बाहर रोशनी कम थी और उस नीम-अंधेरे ने इमारत की भव्यता को और भी बढ़ा दिया था। रात की तो बात ही दूर रही, मुझे तो कभी दिन में भी वहाँ जाने का साहस न होता, लेकिन भोला पहले भी एक-दो बार आ चुका था। बढ़कर उसने खाकी वर्दी पहने, मेरे-जैसी नाइट-कैप सिर पर रखे, मोटर-ड्राइवर-किस्म के एक आदमी से कुछ बात की (बाद में मालूम हुआ कि वह होटल का गाइड है।) वह हमें बाहर ही से एक कमरे में ले आया और हमें वहाँ बैठा कर अन्दर के दरवाज़े से निकल गया।

कमरा बहुत बड़ा न था। उसमें दो नंगे निवाड़ी पलंग, एक ड्रेसिंग-टेबल और दो आराम-कुर्सियों के अतिरिक्त और कुछ न था। दो-तीन मील चलकर आने से मैं कुछ थक गया था, इसलिए आराम-कुर्सी में धँस गया। भोला पलंग की पट्टी पर जा बैठा।

दूसरे क्षण मँझले कद की, गोल-मटोल-सी एक सुन्दर लड़की को गाइड ने कमरे में भेज दिया और वह आकर पलंग के साथ लग कर खड़ी हो गयी।

'ऐसी सुन्दर लड़की कैसे यहाँ पहुँच गयी?' मैं सोचने लगा। लेकिन भोला ने बाज़ू थामकर उसे अपने पास पलंग की पट्टी पर बैठा लिया और बाँह में लेते हुए उसका नाम पूछा—कि बात शुरू करने का यही ढंग उसने अपने उन मित्रों से सीखा था, जो उसे इस

गली में लाये थे ।

मुझे याद नहीं उस लड़की ने क्या नाम बताया । मैं उसके गोल-गोल चाँद-से चेहरे को देख रहा था, जिस पर कुछ अजीब-सा भोला-पन बिखरा था । ज़रा भी न लगता था कि वह उस मंच की अभिनेत्री है । नाम बताते हुए, वह भोला की बगल में लज्जा की कुछ ऐसी अदा से सिमट गयी कि भोला का पुरुष सहसा जाग उठा । रास्ते-भर वह मुझसे कसमें खाता आया था कि वह 'ग्रैंड होटल' की मुन्दरियों से ज़रा छेड़-छाड़ कर, चला आयेगा, लेकिन जब दूसरे क्षण होटल-गाइड आया और लड़की खिसक गयी तो भोला ने किसी तरह का बहाना बनाने के बदले, ज़रा उतावली से पूछा, "एक शॉट का क्या होगा ?"

"दस रुपये ।"

"क्या कहते हो, रोज़ के आने वाले हैं ।"

"माल भी तो देखिए ।"

भोला ने अपनी जेबें टटोलों । पैसे शायद कुछ कम थे, इसलिए अपनी उतावली पर ज़रा अंकुश रखकर वह बोला, "ठीक-ठीक बात करो यार, नहीं चलें ।"

गाइड मँझले कद का, पतला-छुरहरा, नुकीला आदमी था । नाक उसकी उकाब-सरीखी थी और उसकी आँखों में भी उकाब की-सी तेज़ी और किंचित् रुखी निर्दयता थी । उसने निमिष-भर को आँख दबाकर भोला की तरफ़ देखा और दूसरे क्षण पाँच रुपये पर मामला तय हो गया ।

"आओ बरुशी ।" और यह कहते हुए वह गाइड के पीछे चला ।

मैं उठा । यह सब कुछ ऐसी तेज़ी से हुआ कि न मैं भोला से कुछ कह सका और न स्वयं ही कुछ सोच सका । चुपचाप उसके पीछे चल

दिया ।

लेकिन गाइड दीवार बनकर दरवाज़े में तन गया । “आप रुकिए !” उसने क्रदरे सख्ती से कहा, “आप के लिए इससे भी बढ़िया माल लाता हूँ ।”

मैं वहीं रुक गया । सामने होटल का बड़ा हॉल था, जिसमें तीन दीवारों के साथ कौच और तिपाइयाँ लगी थीं और बीच में बाल-डांस के लिए चौकोर फ़र्श छूटा हुआ था । बायीं, याने पिछली दीवार के साथ बार थी । नौ कब के बज चुके थे, इसलिए हॉल में दो-एक ही बल्ब रोशन थे । हॉल की पिछली दीवार में एक दरवाज़ा अन्दर होटल का जाता था । गाइड उसके अन्दर (शायद किसी दूसरे कमरे में) भोला और उस सुन्दरी को छोड़कर वापस आ गया । उसके पीछे-पीछे एक और लड़की आ रही थी । मैं अनायास पीछे हट गया और भोला की जगह चारपाई पर जा बैठा ।

गाइड लड़की को कमरे में छोड़कर चला गया—पतली-दुबली, एक ज़माना खाये हुए—लगता था, सीधे ‘टिब्बी’ से वहाँ आयी है ।

कुछ क्षण मैं चुपचाप उसे देखता रहा । मन में घोर वितृष्णा-भरी खीज उठी । क्या करना चाहिए, इसका विवेक जाता रहा । होटल की शान और गाइड की आँखों में छिपी उस पाशविक निर्दयता का आतंक (वह शक्ल से ही गुण्डा लगता था) और अपनी जेब के रीतेपन का अहसास मंरे मन-प्राण पर बेतरह हावी हो गया । अजाने मैंने उससे वही प्रश्न किया :

“तुम्हारा नाम क्या है ?”

“मुख्तार ।”

दिमाग़ ने सुझाया और मैंने बरबस होंठों पर हँसी लाकर कहा,
“जल-थल की मुख्तार या दिलोजान की ?”

“जिसकी आप समझ लीजिए !”

और इससे पहले कि मैं कुछ उत्तर देता, वह मुस्कराती हुई मेरी बगल में आ बैठी । मेरी जेब भरी होती और मैं उस बाज़ार में बाक्ता-यदा आने वाला होता तो उठकर उसे बाज़ू से पकड़, कमरे से बाहर कर देता, गाइड को बुलाकर उसे डाँटता और पैर पटकता हुआ चल देता । पर मैं कभी उधर आया न था, जेब मेरी एकदम खाली थी और गाइड का रौब मुझ पर बेतरह गालिब था, इसलिए मैं वहीं चिपका बैठा रहा । मन में खयाल आया कि किस चक्कर में फँस गया, मुझे बीडन रोड वाले होटल ही से वापस चला जाना चाहिए था । चेहरा भी मेरा कुछ उतर गया, पर होंठ मुस्कराते रहे और हाथ आप-से-आप उसके कंधे पर चला गया ।

मैंने अवसरानुकूल शेर सोचने की कोशिश की । लाख सोचने पर भी कोई शेर याद न आया । घबराहट में कुछ कहने के बदले मैंने अपना हाथ उसके कंधे से ज़रा नीचे ले जाकर उसकी बाँह का तनिक दबा दिया ।

वह सिकुड़ी-सिमटी नहीं, बल्कि जैसे वह इसी बात की प्रतीक्षा कर रही थी, एकदम मेरे ऊपर लुढ़क आयी । उसका सिर मेरे कंधे पर आ गया और मैंने अपने कंधे और गर्दन के गढ़े में उसके होंठों का अनजान परस महसूस किया ।

इससे पहले कि मैं अचकचाकर उठता, गाइड अन्दर आ गया । साथ ही जैसे मेरी चेतना वापस आ गयी । मैं उठा और मैंने मुस्तार को ज़रा बाहर जाने के लिए कहा और बीडन रोड वाले होटल में कही गयी बात को ज़रा और भी बढ़ा-चढ़ाकर दोहरा दिया ।

‘इस समय तो यही है’ या ‘अभी और हाज़िर करता हूँ’ या ऐसी ही कोई बात गाइड ने नहीं कही । उसने ऐसी टेढ़ी, उपेक्षा-भरी नज़र

से मेरी ओर देखा कि उसकी दृष्टि मेरे सारे आवरणों को भेदती हुई मर्म में चिकोटी काट गयी। उसकी अनुभवी आँखों ने शायद ठीक स्थिति जान ली थी....“आप बाहर बैठिए !” लगभग आदेशपूर्ण स्वर में उसने कहा और दरवाज़े में जाकर हॉल के एक कौच की ओर संकेत किया।

मेरी जान में जान आयी, मैं जाकर कौच में धँस गया और मैंने सुख की एक लम्बी साँस ली।

भोला, मेरा खयाल था, काफ़ी देर में आयेगा, इसलिए मैंने कौच पर टाँगें पसार लीं, सिर पर टोपी खींच ली और आराम से लगभग लेट गया। दिमाग़ उस कमरे की परिक्रमा करने लगा, जहाँ भोला उस भोली-भाली दीखने वाली लड़की के साथ बन्द था।

लेकिन अभी मुझे लेटे पाँच मिनट भी न गुज़रे होंगे कि अन्दर के दरवाज़े से भोला आता दिखाई दिया।

“क्यों !” मैंने हड़बड़ाकर उठते हुए कहा।

“बस, आओ चलो।”

“क्या इतनी जल्दी छुट्टी पा गये ?”

“और क्या—उसे मालूम था कि पाँच ही रुपये दिये हैं, कहीं और हाथ ही नहीं लगाने दिया साली ने !”

मैंने एक दया-भरी दृष्टि भोला पर डाली और उसके पीछे हॉल से बाहर निकल आया। तभी एक कार पोर्च में आ खड़ी हुई। दूर जाकर मैंने पीछे एक दृष्टि डाली। वही भोली-भाली दीखने वाली लड़की मिट्टी में लोटने के बाद पंख भाड़कर चाक-चौबन्द हो जाने वाली मुर्गी-सरीखी, साड़ी को अपने शरीर से लपेटती हुई, हॉल के बरामदे में आ गयी थी और गाइड मोटर के पास खड़ा सवारी को पटा

रहा था ।

“साब वो....बुला रहे हैं ।”

‘वो’ के बाद चपरासी रुका था । शायद वह ‘पागल’ शब्द का प्रयोग करने वाला था, पर फिर वह किसी तरह वाक्य पूरा कर गया था ।

मैं ड्राइंग-रूम में आया । भोला खाना खाकर उठ बैठा था और अपने हाथ कोट और पतलून ही से पोछ रहा था । मैंने चपरासी की ओर क्रोध से देखा ।

“साब, मैंने इन से कहा था कि आइए वाश-बेसिन दिखा दूँ, पर....”

“छोड़ो यार हाथ-वाथ धोने को ।” भोला ने कहा, “तुम मुझे अपनी कोई पतलून-कमीज़ नहीं दिला सकते ? ये कमीज़-पतलून—दोनों फट गयी हैं ।”

वह उठकर कमरे में घूमने लगा था । मैंने चपरासी से कहा, “जाओ ज़रा अन्दर जाकर कहो, हमारी कोई पतलून-कमीज़ भेज दें, इन साहब को देनी है ।”

चपरासी मुड़ने लगा था कि मैंने फिर कहा, “देखो फटी-पुरानी न लाना । ऐसी लाना, जिसमें कुछ दम भी हो ।”

चपरासी चला गया तो मैंने कहा, “कहो यार, तुम्हें उस ‘ग्रैण्ड होटल’ वाली लौंडिया की भी याद है ?”

भोला रुका । क्षण-भर को जैसे वहाँ से वह कहीं दूर चला गया । उसका चेहरा एकदम भाव-शून्य हो गया । फिर धीरे-धीरे उसमें रोशनी लौट आयी और फिर सहसा उसकी आँखें चमक उठीं ।

“तुम शहनाज़ की बात कर रहे हो ?”

“नाम तो मैं भूल गया हूँ, पर तुम्हें याद होगा—एक रात तुम

मुझे 'ग्रैंड होटल' ले गये थे ।”

भोला का आँखों में चमक दुगुनी हो गयी । उसने कहा—“हाँ-हाँ, उस शाम जब हम पहले बीडन रोड के होटल में उस भैंगी गुलाब से मिले थे, फिर 'ग्रैंड होटल' गये थे ।”

“हाँ-हाँ !”

“उसी कमबरुत ने तो मुझे तबाह किया ।”

“कैसे ?”

भोला मेरे सामने रुक गया । उसने गालीचे पर दोनों पैर फैला लिये और बोला :

“तुम को याद होगा कि पहले दिन जब हम गये थे तो उसने मुझे दो मिनट ही में निवटा दिया था । दिल-ही-दिल में मुझे बड़ा क्रोध आया था । वह इतनी सुन्दर और भोली लगती थी कि फिर कुछ और सोच पाना मेरे लिए कठिन हो गया । मुझे लगता था कि पैसे चूँकि मैंने उसे कम दिये, इसलिए उसने मुझे कम समय दिया । पर दूसरी बार जब मैंने उसे दस रुपये दिये और एक घण्टे का समय लिया, तब भी चाहे मैं उसके साथ घण्टे-भर तक लेटा रहा, लेकिन उसने हाथ मुझे कहीं नहीं लगाने दिया और जब मामले का समय आया तो वही दो मिनट !

“तब मुझे लगा कि यह जो मैं 'टिकट' से बचने के लिए विज्ञान की सहायता लेता हूँ, वही उसके और मेरे मध्य दूरी का कारण है । बात तो सिर्फ़ ज़रा-सी खड़ की फिल्ली के प्रयोग की है, लेकिन चम्मच से चावल खाने में भूख चाहे मिट जाय, पर वह तृप्ति तो नहीं होती ! सो मैंने वह सब छोड़ दिया ।....लेकिन वह भले घर की तो थी नहीं । वह थी 'टिब्बी की बला'....यह सब उसके व्यवसाय का अंग था....अपने पुरुषत्व को मनवाने और टिब्बी

की उस किताब का हर पृष्ठ पढ़ने के प्रयास में न जाने मैं किन अंधेरी गुफाओं में उतरता चला गया....पर मैं उसे ज़ोर करके रहा ।”

भोला की आँखों में इतनी तेज़ और उदण्ड चमक थी कि मैं मन्त्र-मुग्ध-सा उसे देखता रहा ।

“तुम मुझे पागल समझ रहे हो ?” सहसा उसने बेपरवाही से हँसकर कहा ।

“नहीं....मैं... मैं....” मुझसे ठीक उत्तर न बन आया ।

“मैं तुम्हें सही-दिमाग़ लगता हूँ ?” और वह ज़ोर से ठहाका मारकर हँस दिया । फिर बोला, “मैं पागल हूँ और मेरा कोई इलाज नहीं । मैं बरेली और आगरा हो आया हूँ । उन लोगों ने मुझे यह कहकर छोड़ दिया है कि मैं ठीक हूँ, पर मैं जानता हूँ कि मेरे खून में से बीमारी कभी दूर नहीं हो सकती ।”

जाने मन कैसा हो आया । वह इतनी समझदारी से बातें कर रहा था कि सहसा विश्वास न होता था ।

तमी चपरासी कपड़े ले आया ।

भोला ने बेपरवाही से उन्हें बाँह पर डाल लिया और चलने को हुआ ।

मैंने हाथ मसोस कर, जैसे उससे नहीं, अपने से कहा, “पर यार, तुम्हारी कैसी आकांक्षाएँ थीं, यह क्या कर लिया तुमने ! तुम्हें तो एम्बेसेडर होना था ।”

“अरे मैं एम्बेसेडर ही तो हूँ, भगवान ने मुझे अपना प्रतिनिधि बना कर यहाँ भेजा है । दिन-दिन-भर घूमकर मैं यहाँ की खबर भगवान को भेजता हूँ ।”

और वह पलटकर निकल गया । चलते वक्त मेरा शुकिया अदा करना या मुझ से हाथ मिलाना भी उसने ज़रूरी नहीं समझा ।



...और किताब बन्द करके, डा० अवस्थी ने एक शीशी से गोलियाँ निकाल, दूसरी शीशी को हिलाकर, उसमें से दवा की एक-दो बूँदें उन पर टपकायीं और कहा, “मुँह खोलिए ।”

गोयल साहब ने मुँह खोल दिया । डाक्टर अवस्थी ने पुड़िया उनके मुँह में उलट दी और बोले, “लीजिए, भगवान ने चाहा तो तीन दिन में आपकी टोपी उतर जायगी ।

तीन दिन में गोयल साहब की टोपी तो उतर गयी लेकिन....



गोयल साहब लखनऊ में 'भारत टाइम्स' (दिल्ली-कलकत्ता) के स्थानीय प्रतिनिधि थे । उनके सम्बन्ध में उनके मित्रों में यह बात आम प्रचलित थी कि वे कुछ शौकीन तबीयत के आदमी हैं । मित्रों ने उन्हें स्कूल में पगड़ी बाँधे, तुरा सजाये, फिर कॉलेज में नंगे सिर पर लम्बे-लम्बे घुँघराले बालों को छिटकाये छैला बने घूमते भी देखा था और कांग्रेस-आन्दोलन में दूधिया खादी के कुर्ते-धोती पर टेढ़ी गाँधी टोपी लगाये भी । बाद में काली अचकन और काली टोपी में सुसज्जित भी पाया था और सूट-हैट में सुशोभित भी । कुछ वर्ष पहले वे पत्रकारों के एक डेलीगेशन में रूस गये थे । वहाँ से बड़ा खूबसूरत मखमली हैट

ले आये थे। दो-एक वर्ष उस डेढ़ सौ रूबल के कीमती हैट का रौब मित्रों पर गालिब करते रहे, फिर १९५४ में वे काबुल गये तो वहाँ से कराकुली खरीद लाये और एक-आध बरस वह कीमती अफ़ग़ानी टोपी मित्रों की प्रशंसा का विषय बनी रही। फिर दो साल बाद कश्मीर गये तो तीन-चार किश्तीनुमा टोपियाँ ले आये (जिन्हें किसी ज़माने में जिन्ना-कैप और आजकल बख़शी-कैप कहा जाता है।) इन नित्य नयी टोपियों और उन्हीं के कारण पहरावे की तब्दीलियों से वे 'शौकीन-मिज़ाज' प्रसिद्ध थे। यह कोई न जानता था कि इस सब के पीछे उनकी कैसी मजबूरी है।

बात वास्तव में यह थी कि उनका सिर बड़ा कमज़ोर था। उनका बस चलता तो वे कभी टोपी न पहनते—बाल उनके इतने सुन्दर, काले और घुँघराले थे कि उन पर कोई टोपी पहनना उन्हें खासा नागवार गुज़रता था, लेकिन सिर की इस कमज़ोरी के हाथों वे बेतरह मजबूर थे। ज़रा-सी भी सर्दी होती और सिर नंगा रह जाता तो उन्हें जुकाम हो आता।....अपनी इस कमज़ोरी को उन्होंने शौकीनी के पर्दे में छिपा लिया था—कॉलेज के एक-दो साल वे नंगे-सिर रहे हों तो दूसरी बात है, लेकिन बाद में तो उन्होंने सदा टोपी को अपनी सर-परस्त बनाये रखा। रूस से जो हैट वे लाये थे, वह उन्हें इतना अच्छा लगता था कि उनका बस चलता तो उसे ज़िन्दगी-भर पहनते, लेकिन हैट के साथ यह मुसीबत थी कि सभा-सोसाइटी में उसे सिर पर न पहना जा सकता था और नंगे-सिर बैठने का मतलब था हफ़्तों जुकाम से परेशान रहना। कराकुली में यह दिक्कत थी कि सख़्त सर्दी में तो काम देती, लेकिन गुलाबी जाड़ों में उसे पहनना मुश्किल। बेहद गर्म। सर्दी के बावजूद सिर पसीने से तर हो जाता। टोपी

उतारते तो छीकें आने लगतीं। कश्मीर की यात्रा ने उनकी यह मुश्किल आसान कर दी थी। वहाँ किश्तीनुमा टोपियाँ पाँच से लेकर पचास रुपये तक की थीं—गुलाबी जाड़ों की बात तो दूर रही, ऐसी भी टोपियाँ थीं, जो गर्मियों में पहना जा सकती थीं—और वे हर तरह की—कम गर्म, दरम्यानी, खूब गर्म....सफेद, काली, भूरी, चितकबरी टोपियाँ खरीद लाये थे। जिस सूट के साथ जो मैच करती, वही पहनते—मित्र उनके सूट या टोपी की प्रशंसा करते तो गोयल साहब मुस्कराकर उनकी प्रशंसा का शुक्रिया अदा करते....लेकिन कभी-कभी अन्दर-ही-अन्दर उनका मन बेहद उदास हो जाता। यह अहसास कि वे टोपी के बिना रह ही नहीं सकते, उनकी सारी ज़िन्दादिली को खत्म कर देता।....हज़रतगंज में शाम को वे सैर के लिए जाते और देखते कि सख्त सर्दों में भी न केवल लांग नंगे-सिर पैदल घूमते हैं, बल्कि साइकिल और मोटर-साइकिल उड़ाये फिरते हैं तो उनका जी चाहता कि टोपी को उतारकर सड़क पर दे पटकें, उसे किसी को उठाने न दें और उसे मोटरों, साइकिलों और ताँगों के नीचे कुचलते और तार तार होते देख, परम-सुख की प्राप्ति करें।....लेकिन इधर जब से वे चालीसवाँ पार कर गये थे, उन्हें टोपी के नीचे मफ़लर तक लपेटने की ज़रूरत पड़ने लगी थी। मोटर-साइकिल चलाते समय ठंडी हवा कानों को लगती तो नाक से पानी बहने लगता। वे मोटर-साइकिल रोक, गले का मफ़लर सिर के ऊपर से कानों पर लपेटकर, गले में बाँध लेते, फिर टोपी रखते और आगे बढ़ते।

इधर उनकी इस उदासी को बढ़ाने वाली एक और वजह पैदा हो गयी थी। पिछले साल से लखनऊ की सालाना नुमाइश में कश्मीरी दुकानदार ढेरों किश्तीनुमा टोपियाँ लाने लगे थे और गोयल साहब की देखा-देखी, उनके लगभग सभी मित्रों ने, उतनी कीमती न

सही, कम कीमती सही, वैसी ही किशतीनुमा टोपियाँ पहननी शुरू कर दी थीं और विशिष्टता का उनका अहसास एकदम खत्म हो गया था। अब कोई उनकी टोपी की प्रशंसा भी न करता था।

तभी बसन्त का त्योहार आ गया। गोयल साहब पंजाबी थे और यद्यपि घर में और सब पगड़ी को तिलांजलि दे चुके थे, पर उनके पिता अब भी पगड़ी बाँधते थे और ७० वर्ष की वय को पहुँच जाने के बावजूद, बसन्त के दिन उसे पीला रँग भी लेते थे। इस बार जब उन्होंने अपने पिता को पगड़ी रँगते देखा तो न जाने गोयल साहब के मन में क्या आयी कि उन्होंने बड़िया मलमल की पगड़ी मँगायी, उसे पीला रँगाया, सिर पर बड़ी सावधानी से सजाया और बसन्त के रोज़, सारा दिन मोटर-साइकिल पर बसन्ती पगड़ी का शिमला हवा में फहराते घूमते रहे।

जब मित्रों ने उनकी पगड़ी की खूब प्रशंसा की और कहा कि सभी टोपियों के मुकाबिले में, पगड़ी उन पर ज़्यादा जँचती है और जिज्ञासा प्रकट की, पहले उन्होंने पगड़ी क्यों नहीं बाँधी? तो गोयल साहब के मन की सारी उदासी एकदम धुल गयी और उन्होंने मन-ही-मन तय कर लिया कि अब वे सदा पगड़ी ही बाँधा करेंगे। चौक में वे एक मित्र से मिलने गये तो लगे हाथों एक रँगरेज़ से बात भी कर आये कि वे उसे तीन-चार पगड़ियाँ ला देंगे और वह उन्हें एक ही दिन में रँग कर दे दे। अपने उस अतिरिक्त उत्साह में उन्होंने रँग भी तय कर लिये—फ़ाख्तयी, गहरा स्लेटी, मोतिया और हल्का जोगिया !....

लेकिन चार बजते-न-बजते उनके सिर में सख्त दर्द होने लगा। पगड़ी उन्होंने मुद्दतों से बाँधी न थी। लम्बे-लम्बे बाल घुटी पगड़ी बाँधने से बुरी तरह भिँच गये थे। वे काफ़ी-हाउस में मित्रों के साथ बैठे थे, जब उन्हें लगा कि वे कोई दवा न लेंगे तो उनके लिए वहाँ बैठना कठिन

हो जायगा। तब इरगापाइरीन की एक गोली मँगाकर उन्होंने काफ़ी के साथ ले ली। सिर-दर्द कम होने के बदले और बढ़ गया, साथ में जी भी मिचलाने लगा। तब मित्रों से छुट्टी लेकर वे घर आ गये।

बाहर ही से उन्हें पता चल गया कि उनकी पत्नी पड़ोसियों के साथ गोमती पर बसन्त मनाने गयी हुई है। वे धड़धड़ाते हुए अपने कमरे में गये। पगड़ी उतारकर उन्होंने ज़ोर से पलंग पर पटक दी। शीशे में शक्ल देखी तो उन्हें सिर पर पगड़ी के पेचों में कसी बालों की गुंजलक का जूड़ा-सा बना दिखाई दिया—आँखें मिंची, माथे की नसें तनी और चेहरे पर अपार थकान—वे बाथ-रूम गये; मुँह पर उन्होंने पानी के छींटें मारे; गीले हाथ बालों पर फेर, उन्हें सँवारा; रूमाल को तह कर, उसकी पट्टी माथे पर बाँधी; पलंग-पोश को पगड़ी-समेत साथ लगे बीबी के पलंग पर उलट दिया और पतलून बदले बिना लिहाफ़ में सरक गये।

यद्यपि उन्होंने रूमाल की गाँठ ऐन कनपटी पर बाँधी थी, पर सिर-दर्द को ज़रा भी आराम न हुआ था। ठक-ठक, ठक-ठक....कोई कनपटी पर निरन्तर हथौड़े मार रहा था। जी उनका बेतरह घुटा जा रहा था। उठकर उन्होंने पानी का गिलास पिया और फिर बिस्तर पर दराज़ हो गये।

कुछ देर बाद उन्हें बेतरह गर्मी लगने लगी। वहीं बिस्तर में लेटे-लेटे उन्होंने पतलून उतारी और उसे भी साथ के पलंग पर बसन्ती पगड़ी और पलंग-पोश के ऊपर फेंक दिया। जी में आयी कि नाइट-सूट पहन लें, लेकिन फिर अंडरवेयर पहने ही लेटे रहे।

लेकिन चैन उन्हें तब भी न मिला। सामने दरवाज़े पर लगे पर्दे की एक ओर से डूबते सूरज की किरणें आँखों पर पड़ रही थीं। उनको लगा जैसे वे ही कनपटियों पर हथौड़े चला रही हैं। उठकर पर्दा ठीक

करने की शक्ति अब उनमें नहीं थी । उन्होंने करवट बदल ली और दीवार की ओर को मुँह करके धीरे-धीरे कराहने लगे ।

“अरे ! क्या बात है ?”

उनकी पत्नी कमरे की चौखट ही से, उन्हें इस तरह लेटे और कराहते देखकर चिल्लायी ।

गोयल साहब ने करवट नहीं बदली । वैसे ही लेटे कराहते रहे ।

मिसेज़ गोयल ने बढ़िया सिल्क की बसन्ती साड़ी तथा उसी रंग का रेशमी ब्लाउज़ पहन रखा था । कन्धों पर औरंगाबादी पीली शाल ले रखी थी, जिस पर रेशम का बड़ा सुन्दर काम था । जूड़े पर गेंदे के पीले फूलों का गजरा था । लगातार बीमारी के कारण पीला दिखाई देने वाला उनका मुख, बसन्ती साड़ी के बावजूद (जिसका बिम्ब पीले चेहरे को और भी पीला बना देता) त्योहार की खुशी से अथवा बाहर धूप में चलने के कारण, तमतमाया हुआ था । उन्होंने शाल एक ओर फेंक दी और उनके सिरहाने बैठ गयीं । पति के सिर पर हाथ फेरते हुए उन्होंने फिर पूछा :

“बात क्या है ?”

गोयल साहब ने करवट बदली—“सिर बेहद दर्द कर रहा है, कनपटियाँ फटी जा रही हैं ।”

“बेलाडोना ३० की चार गोलियाँ ले लेते ।”

गोयल साहब का जी चाहा, जोर से ठहाका मारकर हँस दें, पर सिर-दर्द के कारण केवल मुस्कराकर रह गये । बोले “तुम्हारे बेलाडोना से क्या होगा, मैं इरगापाइरीन ले चुका हूँ ।”

“अब मैं आपको कैसे बताऊँ,” दायें हाथ से उनका माथा दबाते हुए मिसेज़ गोयल बोलीं, “मैंने खुद डा० अवस्थी को सख्त-से-सख्त सिर-

दर्द का इलाज इन्हीं गोलियों से करते देखा है।”

“अरे तुम्हारे उस अवस्थी को कुछ आता भी है।” गोयल साहब पत्नी का हाथ हटाकर अँगूठे और मध्यमा की सहायता से दोनों कनपटियाँ एक साथ दबाकर बोले, “वह मरीज़ को जन्म-पत्री देखकर इलाज करने वाला क्लर्क ...”

“लेकिन मुझे तो आराम आ रहा है....”

“तुम्हें तो हर नया डाक्टर बदलने के बाद आराम आने लगता है।”

“आपकी तो हर बात का मज़ाक उड़ाने की आदत है। सारे शहर में डा० अवस्थी की धूम है, क्या सब-के-सब लोग मूर्ख हैं।”

गोयल साहब चुप हो गये। पत्नी से बहस करना उन्होंने व्यर्थ समझा।

उनकी बीबी को आँतों की पुरानी शिकायत थी। शहर के लगभग सभी डाक्टरों को वे आजमा चुकी थीं और सभी पर ईमान ला चुकी थीं और उन दिनों डा० अवस्थी के गुण गाया करती थीं।

डा० अवस्थी कोई डिग्री-प्राप्त डाक्टर हों, ऐसी बात न थी। सेक्रेटेरिएट के एज्यूकेशन डिपार्टमेंट में वे सीनियर क्लर्क थे, पर क्लर्कों के साथ-साथ होम्योपैथी की प्रेक्टिस भी करने लगे थे और धीरे-धीरे डाक्टर ज़्यादा और क्लर्क कम रह गये थे—हँसमुख, मिलनसार, साहित्य और कला के प्रेमी—उनका बड़ा नाम था—काम उनका दूसरे क्लर्क निबटा देते और अवस्थी जी दफ्तर में बैठे होम्योपैथी की मोटी-मोटी पुस्तकों का अध्ययन किया करते अथवा बड़े-बड़े अफसरों के हुज़ूर में पहुँचकर उनकी ‘शिकायतें’ सुनते और पुड़ियाँ बाँटते। मिनिस्टर्स से लेकर चपरासी तक उनके मरीज़ थे। यों प्रेक्टिस उनकी इतनी चल गयी थी कि नौकरी की उन्हें वैसी ज़रूरत न थी, लेकिन आखिर थे तो क्लर्क ही। चार-एक साल में रिटायर होने वाले थे,

पेन्शन का मोह उन्हें दफ्तर से बाँधे था। सेक्रेटेरिएट में यह किस्सा आम प्रचलित था कि एक सख्त किस्म के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक बार उन्हें डाँट दिया था कि अगर वे दफ्तर में देर से आयेंगे या कोई दूसरा काम करेंगे तो उन्हें डिसमिस कर दिया जायगा। लेकिन एक महीने बाद ही सुपरिण्टेण्डेण्ट का लड़का सख्त बीमार हो गया। जब शहर के सभी डाक्टरों ने जवाब दे दिया तो वह अवस्थी जी की शरण में पहुँचा। उनके पाँवों पर गिर गया कि जैसे भी हो मेरे लड़के का बचाइए। अवस्थी ने चार पुड़ियों ही में उसे भला-चंगा कर दिया।

मिसेज़ गोयल बड़े उल्लास से इस किस्से का बखान किया करती—“वह दिन सो आज का दिन,” किस्सा सुनाकर वे कहती, “सुपरिण्टेण्डेण्ट तो दूर रहा, सेक्रेटरी या मिनिस्टर तक की यह हिम्मत नहीं हुई कि उन्हें दो शब्द कहे।”

उन दिनों अपने परिचितों को हर बीमारी में वे डाक्टर अवस्थी से परामर्श लेने की राय देती और एलोपैथी के मुकाबिले में होम्योपैथी के गुण गाती—‘होम्योपैथी तो भैण जी (या भरा जी) तीर की तरह निशाने पर बैठती है,’ वे कहती, ‘जिन बीमारियों को बड़े-बड़े सर्जन भी ठीक नहीं कर पाते, उन्हें होम्योपैथी की ये सरसों-बराबर गोलियाँ दिनों ही में ठीक कर देती हैं।’....और वे बताती—किस प्रकार डाक्टर अवस्थी ने उनकी एक सहेली के गर्भाशय की रसौली एक ही बार की दवा से ठीक कर दी थी....बच्चे के जन्म के बाद उसकी नाभि के नीचे भारीपन रहने लगा था, जब रिकशे के धक्के से भी दर्द होने लगा तो उसका पति उसे अस्पताल में ले गया। डाक्टर ने कहा—‘रसौली है, आपरेशन करना पड़ेगा; सर्दियों में आइए!’ आपरेशन के नाम से ही उसकी जान निकल गयी। इस बीच में किसी ने अवस्थी जी का पता बता दिया। उन्होंने दवा की चार खुराकें दीं। लेकिन

वह चौक में रहती थी और अवस्थी पार्क रोड पर। वह दवाई तो उसने ले ली, लेकिन फिर नहीं गयी। पति उसके कुछ सनकी थे। दिसम्बर के शुरू ही में वे उसे अस्पताल ले गये कि अगर आपरेशन कराना हो तो समय से कमरा बुक करा लिया जाय। डाक्टर ने निरीक्षण किया तो हैरान होकर बोली—‘इट इज़ नॉट देयर। इट हैज़ कम्पलीटली वैनिशड !’

और मिसेज़ गोयल अपने पतले स्वर और कान्वेण्ट-ज़दा लहजे में इसी वाक्य को दोबारा उलट कर कहतीं, “सच !—डाक्टर ने कहा—इट हैज़ कम्पलीटली वैनिशड। इट इज़ नाट देयर।”

वहीं लेटे-लेटे गोयल साहब के दिमाग में अपनी पत्नी की सारी बातें घूम गयीं। सिर-दर्द के बावजूद उनके होंठों पर मुस्कान फैल गयी। कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा, “तुम मुझे ऐस्प्रो की दो गोलियाँ दे दो।”

“ऐस्प्रो तो घर में नहीं है।” उनकी पत्नी ने कहा, “मैं डा० अवस्थी को फ़ोन करके पूछती हूँ कि वे क्या कहते हैं।”

और इससे पहले कि वे उन्हें रोकें, मिसेज़ गोयल दफ़्तर में गयीं, उन्होंने डा० अवस्थी को फ़ोन किया और आकर बोलीं, “मैंने कहा था न कि बेलाडोना ३० की चार गोलियाँ ले लीजिए, अवस्थी जी ने भी यही कहा है।”

“तुम ज़रा डा० चटर्जी को फ़ोन करतीं,” गोयल साहब ने अपने प्रिय एलोपैथ का ज़िक्र किया, जिसे उनकी पत्नी कब का त्याग चुकी थीं।

“फ़ोन पर कभी उन्होंने दवा बतायी है,” मिसेज़ गोयल खीज कर बोलीं, “जो अब बतायेंगे। आप चाहते हैं तो मैं फ़ोन कर देती हूँ, आकर

देख जायेंगे, लेकिन अब फोन करूंगी तो साढ़े नौ बजे आयेंगे। नौ बजे तो वे 'सेवाश्रम' ही से उठते हैं। आप मेरी बात मानिए, चार गोलियाँ मैं आप को बेलाडोना की देती हूँ। न आराम आया तो जिस डाक्टर को कहिएगा बुला दूंगी।”

और इससे पहले कि वे कुछ कहते, उनकी पत्नी अँगोठी पर पड़ी हुई एक छांटी-सी शीशी उठा लायी, अखबार से एक पुरजा फाड़कर उन्होंने चार गोलियाँ उसमें टपकायीं और गोयल साहब से कहा, “मुँह खोलिए !”

गोयल साहब ने अनिच्छापूर्वक मुँह खोल दिया। मिठास के साथ एक हल्का-सा तीखापन उन्हें ज़बान पर महसूस हुआ। गोलियाँ शायद दवा से गीली थीं, क्योंकि कागज़ पर एक-दो जगह निशान पड़ गये।

आध घंटे बाद गोयल साहब के सिर का दर्द दूर हो गया।

दूसरे दिन गोयल साहब वही पुरानी किश्तीनुमा टोपी पहने अपनी पत्नी के लिए दवा लेने डा० अवस्थी के पास पहुँचे तो दवा बनाते हुए, डाक्टर अवस्थी ने उनका भी हाल-चाल पूछा कि अब उनके सिर का दर्द कैसा है। गोयल साहब ने कहा कि बेलाडोना लिया था, जिससे आराम आ गया है। तब डा० अवस्थी बेलाडोना के गुण गिनाने लगे।

वे होम्योपैथी के चमत्कारों का बखान कर रहे थे और बता रहे थे कि उन्होंने किस-किस का कैसी-कैसी घातक बीमारियों में इलाज किया है कि गोयल साहब ने अपने सिर-दर्द का कारण बताया और बोले, “सारी दुनिया नंगे-सिर घूमती है, एक मैं हूँ कि सर्दियाँ तो दूर, गर्मियों तक मैं टोपी लगाये घूमता हूँ। आप मेरा इलाज करें तो जानूँ।”

वह किसी ने कहा है ना—रसरी आवत-जात ते सिल पर पड़त निसान—पत्नी की बातों का असर गोयल साहब पर भी हो गया था।

“हूँ ।” पुड़ियाँ बनाते-बनाते डा० अवस्थी ने कहा और फिर एक बड़ी-सी पुस्तक सामने रखकर उसके पन्ने उलटने लगे । कुछ क्षण बाद बोले, “लीजिए, मिल गयी ।”

और उन्होंने जोर से पढ़ा—‘अ पर्सन हू वेयर्ज़ अ हेडड्रेस ईवन इन समर’ और किताब बन्द करके एक शीशी से गोलियाँ निकाल, दूसरी शीशी को हिलाकर उसमें से दवा की एक-दो बूँदें उन पर टपकायीं और कहा, “मुँह खोलिए ।”

गोयल साहब ने मुँह खोल दिया । डाक्टर अवस्थी ने पुड़ियाँ उनके मुँह में उलट दी और बोले, “लीजिए, भगवान ने चाहा तो तीन दिन में आपकी टोपी उतर जायगी ।”

तीन दिन में टोपी तो गोयल साहब की उतर गयी, लेकिन उन्हें जी में कुछ ऐसी घबराहट रहने लगी कि वे फिर डाक्टर अवस्थी के पहुँचे । उन्होंने फिर पुड़ियाँ बनायीं और उनका मुँह खुलवा कर उँडेल दी ।

जब तीन दिन तक कुछ आराम न आया—घबराहट बढ़ती गयी, भूख एकदम मर गयी, पेशाब पीला-पीला आने लगा तो गोयल साहब ने डा० चटर्जी के ‘सेवाश्रम’ का रुख किया ।

वहाँ बड़ी भीड़ थी । बाहर के बड़े हॉल के बीचों-बीच जो गोल मेज़ और उसके गिर्द गोल बेंच मध्य-वित्त के सभ्य-सुशिक्षित मरीज़ों के लिए थी, वह एकदम खचा-खच भरी थी । दरवाज़े के दोनों ओर निम्नवर्ग के मरीज़ों के लिए जो बेंचें पड़ी थीं उन पर तिल धरने को जगह न थी, बल्कि कुछ औरतें नीचे फर्श पर बैठी थीं । गोयल साहब फटफटिया दरवाज़े के पास खड़ी कर अन्दर गये । गोल मेज़ से

उन्होंने वीकली का एक पुराना अंक लिया और दायीं ओर काउंटर के साथ कोहनी लगाकर खड़े हो गये । लेकिन वीकली खोलकर भी वे उसे पढ़ नहीं पाये । ध्यान उनका अपनी बारी में लगा रहा ।

गोयल साहब को डा० चटर्जी के क्लिनिक की सफ़ाई, क़रीना और सुव्यवस्था बड़ी पसन्द थी । नहीं पसन्द थी तो यह भीड़ । पहले आओ या पीछे, अपनी बारी के लिए डेढ़-दो घण्टे वहाँ ज़रूर बैठना पड़ता था । डाक्टर चटर्जी सुबह आठ से बारह बजे तक और शाम को छै से नौ बजे तक बैठते थे । बारी से पहले वे किसी को न देखते थे, चाहे कोई कितना भी बड़ा आदमी क्यों न हो । दुकान के वक्त वे कभी विज़िट पर न जाते । यदि कोई पहली बारी लेने के लिए वक्त से पहले वहाँ पहुँचता तो उसे डाक्टर साहब के आने की प्रतीक्षा में और बाद में पहुँचता तो दूसरे मरीज़ों के निबटारे जाने की प्रतीक्षा में उतना वक्त ज़रूर बैठना पड़ता ।

डेढ़ घण्टे बाद गोयल साहब की बारी आयी । डाक्टर चटर्जी अपने छोटे-से कमरे में छोटी-सी मेज़ के पीछे चाक-चौबन्द बैठते थे । उनकी छोटी-सी मेज़ पर किताबें क़रीने से चुनी थीं और छोटे-छोटे पुज़ों पर वे बड़ी तेज़ी से नुस्खे लिखते (जिन्हें केवल उनका कम्पाउण्डर ही पढ़ पाता) मेज़ के शीशे के नीचे मरीज़ों की ओर को उन्होंने तीन निर्देश टाइप कराके चस्पाँ कर रखे थे :

—कोहनियाँ मेज़ पर न टिकायें !

—मेज़ पर पड़ी कोई चीज़ न छेड़ें !

—बन्वों को मेज़ से परे रखें !

उनके पीछे एक पार्टिशन थी, जिसके दोनों ओर दो दरवाज़े थे, जो दो निरीक्षण-कक्षों को जाते थे (एक मध्य-वित्त वालों के लिए था, दूसरा निम्न-वर्ग वालों के लिए ।) डाक्टर चटर्जी जिस तेज़ी से

मरीज़ों को निबटाते थे, उसे देखकर गोयल साहब चकित रह जाते थे। वे एक मरीज़ को देखकर निरीक्षण-कक्ष के बाहर आते तो नुस्खा लिखने से पहले घंटी पर हाथ मारते और अगले मरीज़ को दूसरे कक्ष में जाने का संकेत कर देते। नुस्खा लिखकर मरीज़ को देते और उसे देखने चले जाते। घण्टी की आवाज़ सुनते ही कम्पाउण्डर दो और मरीज़ अन्दर भेज देता।

गोयल साहब कभी-कभी डाक्टर चटर्जी की इस तेज़ी पर चकित रह जाते और सोचा करते कि डाक्टर कितने मील दिन में अपने मेज़ और निरीक्षण-कक्ष के बीच चल लेते होंगे ?

कमरे के अन्दर जाते ही उन्होंने डाक्टर चटर्जी को नमस्कार किया, जो उन्होंने बदस्तूर नुस्खा लिखते हुए स्वीकार किया।

डाक्टर के पीछे पार्टीशन पर एक नकली तिलचट्टा पिन के सहारे टंगा था, जिसके नीचे दुम को खम दिये छिपकली लगी थी। पहली बार जब गोयल साहब डाक्टर चटर्जी के क्लिनिक में आये थे तो उन्हें दोनों चीज़ें एकदम असली लगी थीं और वे देर तक इस बात की प्रतीक्षा करते रहे थे कि कब छिपकली झपटकर तिलचट्टे को अपने जबड़े में दबोच लेती है। यद्यपि उन्हें पता चल गया था कि वे नकली हैं, तो भी गोयल साहब जब वहाँ जाते, उनकी निगाहें उन पर जम जाती थीं।

तिलचट्टे और छिपकली को देखते-देखते गोयल साहब बेखयाली में कोहनियाँ मेज़ पर टिकाने ही जा रहे थे कि उनकी निगाह शीशे के नीचे लगे मॉटों पर गयी। झट वे सीधे होकर बैठ गये। तभी डाक्टर ने उनसे पूछा, “कहिए !”

गोयल साहब ने अपनी तकलीफ़ बतायी कि उनका जी भारी-भारी रहता है, भूख ख़त्म हो गयी है और पेशाब का रंग पीला हो

गया है ।

डाक्टर साहब ने उन्हें अन्दर जाने का इशारा किया । वे जाकर लेट गये तो कुछ क्षण बाद डाक्टर अन्दर पहुँचे । उनकी नाड़ी देखी, ज़बान देखी, ज़रा-सा पेट को टटोला और फिर बोले, “आप दिन-रात काम करता है, फटफटिया पर घूमता है । आपको थोड़ा पैदल चलने को माँगता है ।”

और वे बाहर निकल गये । जब गोयल साहब बाहर आये तो डाक्टर चटर्जी ने नुस्खा उनके हाथ में देते हुए कहा, “तीन दिन का दवाई हम दिया है । केलशियम और विटामिन बी काम्प्लेक्स का इंजेक्शन लेना होगा । दवा पियो, इंजेक्शन लो, थोड़ा घूमो, सब ठीक हो जायगा ।”

और वे उठकर दूसरे कमरे में चले गये, जहाँ कोई नीची जात का मरीज़ खुरीं मेज़ पर बिछे भूरे-से मोमजामे पर लेटा था । अन्दर जाकर डाक्टर साहब ने पर्दा खींच दिया ।

गोयल साहब ने बाहर आकर नुस्खा दिया । आधे घण्टे में नुस्खा बना, जिसके पाँच रुपये साठ नये पैसे कम्पाउण्डर ने ले लिये । ‘सेवाश्रम’ की सीढ़ियाँ उतरते वक़्त गोयल साहब ने एक नज़र उन बेंचों पर बैठे मेहतरों-मज़दूरों पर डाली, जिनसे डाक्टर चटर्जी किसी तरह की रियायत न करते थे । और उन्हें उस क्लिनिक के आश्रम और सेवा-सूचक नाम पर अनायास हँसी आ गयी ।

उन दिनों सहसा कश्मीर, शिमला, नैनीताल और मसूरी में ज़ोर की बर्फ़ पड़ी । कोल्डवेव आयी और कहाँ तो दिन को गर्मी लगने लगी थी और धूप बरदाश्त न होती थी, कहाँ इतने ज़ोर की सर्दी पड़ी कि ओवरकोट तक निकालने की नौबत आ गयी । गोयल साहब सर्दी में कम ही बाहर निकलते थे, लेकिन उन दिनों डाक्टर के

परामर्शानुसार रोज़ सैर को जाते। इतनी गर्मी उन्हें अपने अन्दर महसूस होती कि वे बिना ओवरकोट, मफलर और टोपी के कभी गौतम पल्ली तक और कभी शिवा जी मार्ग तक पैदल घूमते।.... लेकिन इतनी सैर करने के बावजूद लाभ उन्हें ज़रा भी नहीं हुआ। जी उनका पूर्ववत् भारी रहा और भूख वैसे ही गायब रही।

उन्होंने तीन इंजेक्शन लिये थे कि एक दिन उनकी बीवी ने कहा, “आप की आँखें तो पीली-पीली लगती हैं।”

गोयल साहब शाम को डाक्टर चटर्जी के पास पहुँचे और उन्होंने कहा कि मुझे पीलिया हो गया है। डाक्टर ने उनकी दोनों आँखों के पपोटे ज़रा नीचे करके देखे। बिजली की रोशनी में वह हल्का पीलापन भला कहाँ दिखाई देता। बोले, “तुम लोग बोट वहम करता है। पीलिया-बीलिया कुछ नहीं। सबह आना, देखेगा।”

दूसरे दिन गोयल साहब फिर गये। तब डाक्टर चटर्जी ने आँखें देख कर बेपरवाही से कहा, “हाँ कुछ जांडिस मालूम होता है, यह दवा नहीं चलेगा! दूसरा इंजेक्शन लेना होगा।”

गोयल साहब कहने जा रहे थे कि उन्होंने तो पहले भी कई बार कहा था कि उन्हें पेशाब पीला आ रहा है....लेकिन डाक्टर चटर्जी ने उनकी बात नहीं सुनी। पुर्ज़े पर दवाई लिखकर उन्हें दी और यह हिदायत देकर कि दूध-घी, रोटी कुछ दिन नहीं लेना है और फल और उबली सब्ज़ी खाना है, वे अन्दर निरीक्षण-कक्ष में लेटे मरीज़ को देखने के लिए चल दिये।

गोयल साहब पर इस बीच में बीस-पच्चीस की चपत पड़ चुकी थी। उन्हें डाक्टर पर बेहद गुस्सा आया—मैं कहता था, मेरे कारुरे का रंग पीला हो गया है, मेरा जी घबराता है, शरीर में बड़ी गर्मी है.... और विटामिन बी के इंजेक्शन लगा दिये!....और पहली बार

डाक्टर की वह तेज़ी उन्हें अखरी, जिससे कि वे एक बार में तीन मरीज़ निबटाते थे और जिसकी मन-ही-मन गोयल साहब बड़ी प्रशंसा करते थे ।

घर आकर उन्होंने बीस गालियाँ डाक्टर को दीं, दवायें उठाकर पटक दीं और बीवी से कहा कि आज से वे केवल गन्ने का रस पियेंगे और फलों और उबली हुई सब्जियों पर रहेंगे । उनके छोटे भाई को एक बार पीलिया हो गया था और केवल गन्ने का रस पीने से उसे आराम आ गया था । वही इलाज वे भी करेंगे और किसी डाक्टर के चक्कर में नहीं पड़ेंगे ।

मिसेज़ गोयल ने एक बार दबी ज़बान से कहा कि शायद डाक्टर अवस्थी ने कोई हार्ड-मोटेंसी की दवा दे दी है, आप ज़रा उनसे कहिए कि वे कोई एण्टीडोट दे दें ।

लेकिन इस पर जिस कहर-भरी नज़र से गोयल साहब ने उनकी ओर देखा, उससे उन्हें कुछ कहने का साहस नहीं हुआ और चुपचाप उन्होंने नौकर को मोसम्बी-संतरे और कुछ सब्जियाँ लाने के लिए भेज दिया ।

गोयल साहब की तबियत खासी खराब हो गयी । आँखों के साथ उनका सारा शरीर पीला पड़ गया, पर उन्होंने किसी डाक्टर की शरण नहीं ली । उनकी पत्नी उनके पास कुर्सी पर बैठी कुछ कादती-बुनती रहती, इधर-उधर की बातें करती, पर भूलकर भी उन्होंने डा० अवस्थी अथवा होम्योपैथी का नाम नहीं लिया । धीरे-धीरे गोयल साहब की तबीयत कुछ सम्हलने लगी, उन्हें भूख लगने लगी, आँखों की पीलाहट भी कम होने लगी । तभी एक दिन उनकी पत्नी ने इकीम महबूब आलम चिश्ती का ज़िक्र किया ।

मिसेज़ गोयल अपने भानजे के लिए ऊनी टोपी बुन रही थीं (हर वर्ष वे लोग पहाड़ जाते थे और वे समय से अपने भानजे को सूट बुनकर भेज देना चाहती थीं) तभी अचानक उन्होंने कहा, “पाण्डे की बीवी हकीम चिश्ती की बड़ी प्रशंसा कर रही थीं । उनकी बहन को टायफ़ायड हुआ, फिर जाने कैसी गर्माँ उसके सिर को चढ़ गयी कि वह पगला गयी । सारे डाक्टर जतन करके हार गये, डाक्टर अवस्थी भी कुछ दिन इलाज करते रहे (यह बात उन्होंने गोयल साहब को खुश करने के लिए कही) लेकिन कोई कुछ न कर सका । अन्त में उन्होंने राय दी कि उसे आगरा, बरेली या कांके भेज दिया जाय । कांके की सब ने तारीफ़ की । जवान-जहान बहन—वे बड़ी धूम से उसके ब्याह का प्रोग्राम बना रहे थे । इन्ही गर्मियों में लग्न था । बरेली या कांके भेजने को पाण्डे जी तैयार न हुए और घर में उसकी हालत देखी न जाती थी । तभी किसी ने हकीम चिश्ती का पता बताया । सत्तरबरस की उनकी उमर है और वे बड़े मशहूर हकीम हैं । यहाँ से कलकत्ता और अमृतसर तक जाते हैं । उन्होंने छै महीने में उसे ठीक कर दिया । आप कहिए तो मैं बुलवाऊँ उन्हें ।”

गोयल साहब ने उनकी बात नहीं सुनी । वे उस लाल टोपी को देख रहे थे, जो उनकी पत्नी के हाथों में लगभग मुकम्मल हो गयी थी । सहसा उन्होंने कहा, “तुम मेरे लिए, दो-एक ऐसी गोल टोपियाँ नहीं बुन सकतीं ?”

“टोपियाँ !” पत्नी ने आश्चर्य से उनकी ओर देखा ।

“यह रंग तो भड़कीला है, तुम डार्क-ब्लू या डार्क-ग्रे रंग की, मेरे सूटों से मैच करती हुई, दो टोपियाँ बुन दो तो बहुत अच्छा हो ।”

“मैं आज ही ऊन लाकर शुरू कर दूंगी ।” और उन्होंने फिर हकीम चिश्ती को बुलाने की बात कही । बोलीं, “तुम कमज़ोर हो गये हो ।

हकीम चिरुती को बुलवाती हूँ, ताकत की ऐसी दवा देंगे कि गर्मी भी न हो और शरीर में शक्ति भी आये।”

“मैं ठीक हो गया हूँ,” गोयल साहब ने क्रदरे हँसकर कहा, “क्योंकि मेरे सिर को फिर ठण्ड लगने लगी है। तुम ने ध्यान नहीं दिया, आज मैं दो-तीन बार छींका हूँ। तुम बस मेरे सूटों के रंग का ऊन लेकर दो-एक टोपियाँ बना दो।”

एक हफ्ते बाद जब गोयल साहब स्वस्थ होकर नीला सूट पहने बाहर निकले तो उनके सिर पर बायीं ओर को झुकी, सूट के साथ मैच करती हुई गोल टोपी थी। दोस्तों ने जब उनके कुछ कमजोर हो जाने पर समवेदना प्रकट करते हुए उनके चेहरे पर खिलने वाली उस टोपी की भरपूर प्रशंसा की तो गोयल साहब डाक्टरों की सभी ज़्यादातियाँ भूल गये।



 वेवरी 

 लाल पागलों की तरह अपनी गर्दन छुड़ाने की चेष्टा कर रहा था। तभी उसकी पसली में ज़ोर का दर्द उठा। ढीला पड़कर कराहते हुए उसने कहा, “आया मेरी पसली दर्द कर रही है, मुझे छोड़ दो !”

आया ने बड़ी कोमलता से उसे अपने साथ चिमटा लिया। उसकी अपनी पकड़ ढीली हो गयी। उसके अंग शिथिल हो गये।

“साब्र हम तुम्हें कुछ नई कहा। तुम यों ही घाबर गया।” और उसने दायाँ हाथ उसके चेहरे पर फेरते हुए उसे पुचकार दिया।



लाल ने कनखियों से देखा—आया दरवाज़े में खड़ी थी और दबी निगाह से उसकी ओर देख रही थी ।

कुछ निमिष—जिनका बोझ लाल के लिए असह्य हो गया—उसे लगा, जैसे फिर आया आगे बढ़कर उसके चेहरे पर प्यार से हाथ फेरना चाहती है—और वह क्रोध से चिल्ला उठा—“आया, तुम जाओ ! मैंने मेम साब से कह दिया है, तुम्हें एक महीने की पगार ब्यादा दे दें । अब तुम्हारा गुज़र यहाँ नहीं, तुम जाओ !!”

“हम चला जायँगा साब, हम पगार ले लिया, तुम खुस रहो ।”
आया के हाथ की तरह पुचकारती-सी उसकी आवाज़ आयी, एक

अरमान-भरी उदास नज़र उसने उस पर डाली, फिर वह पलटी और चली गयी ।

लाल का तना हुआ दिमाग ढीला पड़ गया । निष्कृति की एक लम्बी साँस उसके होंठों से निकल गयी । आया को कोई अभाव है, खाने-कपड़े और सिर के ऊपर छत से आगे भी उसकी कोई इच्छा-आकांक्षा है, यह लाल ने कभी न सोचा था— पर वह मशीन तो न थी ।—और सहसा कुछ अजीब-सा पश्चाताप उसे हो आया । वह उछलकर उठा और हॉल-कमरे में आया कि उसे जाने से रोक ले । लेकिन तभी पिछले कई महीने पलक झपकते उसकी आँखों के आगे से गुज़र गये और वह घटना और उस घटना का हर ब्योरा उसकी कल्पना में साकार हो उठा, जो दो रात पहले घटी थी....

डेढ़ वर्ष पहले, जब अचानक डाक्टरों को उसके फेफड़े में यक्ष्मा के हल्के-से आक्रमण का सन्देह हुआ था तो उसकी पत्नी ने फ़ैसला किया था कि सर्दियाँ बीतते ही वह उसे पंचगनी ले जायगी, उसे सेनेटोरियम में दाखिल करा देगी और स्वयं बाहर फ़्लैट लेकर आया और बच्चे के साथ रहेगी । लेकिन उनकी पहली आया कमबख्त ऐन वक़्त पर धोखा दे गयी थी । जवान थी । अपने एक ब्वाय-फ़्रेंड के साथ भाग गयी और लाल के सामने उस बीमारी में नयी आया ढूँढ़ने की समस्या आ उपस्थित हुई थी ।

लाल का साला लिट्टी, वहीं फ़िल्म कम्पनी में प्रापर्टी-मैन था और एक दिन के नोटिस पर बहली से लेकर सुरमेदानी तक स्टूडियो में हाज़िर कर सकता था । जब दस-पन्द्रह दिन तक नयी आया न मिली और एक दिन लाल ने अपने साले से कहा कि यह कारसाज़ी तुम्हारी आखिर किस दिन काम आयेगी, जब तुम एक आया तक ढूँढ़ कर

नहीं ला सकते, तो चुटकी बजाते हुए लिट्टी बोला था कि लीजिए, चौबीस घण्टे में आया ला हाज़िर करता हूँ ।

और सचमुच वह चौबीस घण्टे बाद आया को ले आया था ।

लाल ग्रांट रोड में विलिमोरिया के क्लिनिक से फेफड़े में हवा भरवा के आया था कि सीढ़ियों पर उसे लिट्टी मिल गया :

“आया तो मैं ले आया हूँ जीजा जी,” उसने हँसकर कहा था, “अपने काम में माहिर भी है, लेकिन देखने में अच्छी नहीं ।”

“मुझे कौन-सा उससे इश्क करना है,” लाल ने थकी-सी मुस्कान के साथ कहा था और पत्नी के सहारे धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ने लगा था, क्योंकि ए० पी० की बड़ी सुई के कारण उसकी पसलियों में दर्द हो रहा था ।

लेकिन जब उसने आया को देखा था तो उसे वह ज़रूरत से ज्यादा कुरूप लगी थी—पतली-दुबली, सड़ी-सूखी, कन्धे किंचित् झुके हुए और दाँत कुछ बाहर को निकले हुए—लगता था, जैसे उसने तीन-चार दिन से फ्राका कर रखा है और कपड़े हफ्तों से नहीं धोये ।

अन्दर कमरे में पहुँचकर उसकी बीबी ने कहा, “यह तो बंदरिया-सी लगती है ।”

“तो न रखो, कोई दूसरी ढूँढ़ लेंगे,” लाल ने कहा, लेकिन फिर चारपाई पर लेट और दायीं पसली में होने वाले दर्द को बरबस दबा कर उसने कहा था, “अगर काम अच्छा करती है तो रख लो । सुन्दर आया घर में रहेगी तो तुम्हीं को परेशानी होगी ।”

और उसने पसली के दर्द के बावजूद, हँसने का प्रयास किया था, पर उसकी हँसी मुस्कान के किंचित् मुखर रूप से अधिक कुछ न बन पायी थी ।

‘बीमार पड़ गये हो, पर शरारत से बाज़ नहीं आते ।’ पत्नी

कहना चाहती थी, लेकिन पति को उसकी बीमारी की याद दिलाये, यह उसे स्वीकार न हुआ और ममता-भरी उन आँखों से पति को डाँटकर, जिनसे माँ किसी नटखट बच्चे को उसकी शरारत पर डाँटती है, पत्नी बाहर चली गयी थी ।

लेकिन पति की बात उसके मन में लग गयी थी । पिछली आया का, जो जवान भी थी और सुन्दर भी, उसे खासा कटु अनुभव था, इसलिए लाल की बीवी ने उस कुरूपा को रख लिया था । विशेषकर यह जानकर कि वह खाना भी बढ़िया पका लेती है ।

कुछ ही महीने में भर-पेट भोजन, निश्चिन्तता और आराम से आया का शरीर भर आया था । कपड़े भी वह धोबी के धुले पहनने लगी थी और यद्यपि दीखती तो वह अब भी बँदरिया ही-सी थी, पर लाल और उसकी बीवी को वह अब कुछ वैसी बुरी न लगती थी ।

बच्चे की देख-भाल में वह निपुण थी । उसके खाने, खेलने, सोने में समय की पाबन्दी का वह पूरा खयाल रखती । उसे एक भी गन्दी आदत उसने नहीं पढ़ने दी । जब गर्मियाँ शुरू होते ही लाल पंचगनी के सेनेटोरियम में दाखिल हो गया और उसकी बीवी बाहर एक बँगले का पोर्शन लेकर आया और बच्चे के साथ रहने लगी, तो वह जब सुबह-शाम उससे मिलने आती और आया का ज़िक्र चलता तो हमेशा उसकी प्रशंसा करती और वे दोनों अपने भाग्य को सराहते कि उन्हें ऐसी योग्य और ईमानदार आया मिल गयी ।

छै महीने सेनेटोरियम में गुज़ार कर और काफ़ी स्वस्थ होकर (यद्यपि वह ए० पी० भी बराबर लेता था और इंजेक्शन भी) लाल बाहर आ गया था । उसकी पत्नी बँगले के जिस पोर्शन में रहती थी, उसमें आगे एक बड़ा हॉल और पीछे दो कमरे थे । हॉल की जो दीवार बागीचे की ओर थी, उसमें पूरी-की-पूरी दीवार में शीशे लगे

थे। धूप तो नहीं, लेकिन रोशनी खूब आती थी और बागीचे का सौन्दर्य जैसे दिन-भर हॉल-कमरे में बना रहता था। यद्यपि लाल नेगेटिव होकर बाहर आया था, तो भी वह चाहता था कि बीमारी की सम्भावना भी उसकी बीवी और बच्चे के निकट न फटके। इसलिए उसने बाथ-रूम वाला कमरा अपनी बीवी और बच्चे के लिए रहने दिया और अपना पलंग दूसरे कमरे में उठवा लाया था। कमरे की मोरी के इधर एक ईंट की मेंड-सी बनवाकर बाँसों और चटाई की मदद से उसने एक पर्दा खड़ा करके बाथ-रूम का प्रबन्ध कर लिया था।

ये दोनों पिछले कमरे हॉल में खुलते थे, लेकिन दोनों के बीच भी एक दरवाज़ा था, जिसे लाल प्रायः बन्द रखता था कि जब-तब उसका बच्चा उसके कमरे में न आये। आया लाल की पत्नी वाले कमरे के बाहर, हॉल में चटाई पर, अपना बिस्तर बिछाकर सोती और सुबह बिस्तर गोल करके किचन के साथ वाले गोदाम में रख देती। शाम को खाना पकाकर वह हॉल-कमरे ही में ले आती और प्रायः जब दोनों मियाँ-बीवी घूमने जाते, बच्चे को ले बैठती और गोआनी कहानियाँ सुनाती। खाना खाकर पत्नी पति के पास उसके कमरे में कुछ देर बैठती। बच्चा प्रायः कहानियाँ सुनते-सुनते वहीं सो जाता तो आया उसे उसकी माँ के बिस्तर पर लिटा आती और 'मेम साब हम सोता है !' कहती हुई, अपने बिस्तर पर जा लेटती।

जा लेटती, लेकिन लाल को लगता कि जब तक उसकी पत्नी उसके कमरे में रहती, आया सोती न थी। क्योंकि बच्चा जब कभी कच्ची नींद में जग पड़ता तो इससे पहले कि उसकी पत्नी अपने कमरे में जाय, आया लपककर उसे उठा लेती और पुचकारने-दुलारने लगती और लाल मन-ही-मन उसकी कर्तव्यपरायणता की प्रशंसा करता।

लाल की पत्नी आया को बहुत मानती थी। बच्चा चूँकि बड़ा हो गया था, इसलिए आया ने खाना पकाने का सब काम अपने हाथों में ले लिया था। बर्तन मलने और सफ़ाई करने को वहीं की एक घाटन—भीमी बाई आती थी। आया कई तरह की मछली और कई तरह का गोश्त् पकाती। चूँकि आया को मछली और चावल पसन्द थे, और लाल का परिवार पंजाबी होने के नाते चावल कभी ही खाता था, इसलिए जब आया ने इच्छा प्रकट की कि उसे अपने लिए अलग से मछली-चावल पकाने की इजाज़त दी जाय तो लाल की बीवी मान गयी थी। आया बच्चे को किचन में बैठा लेती, खाना भी पकाये जाती और उसे कहानियाँ भी सुनाये जाती। कहानियाँ न सुनाती तो अंग्रेज़ी अथवा हिन्दुस्तानी के वे शब्द या वाक्य, जो उसे आते थे, बच्चे को सिखाती, और यह सब लाल की बीवी को बड़ा अच्छा लगता और वह सदा लाल से इसका ज़िक्र किया करती।

इसके अतिरिक्त आया लिट्टी को भी बड़ा मानती और यह बात भी लाल की बीवी को पसन्द थी। लिट्टी कभी-कभी प्रकट अपने जीजा का हाल-चाल लेने, पर वास्तव में 'कड़की' के कारण (जो प्रायः उसके यहाँ बनी रहती) अपनी बहन से कुछ आर्थिक सहायता पाने आया करता। वह जब भी आता, आया के चेहरे पर रौनक आ जाती। वह छै अंडों की पुडिंग बनाती और उसे प्लेट में जमाकर एकदम होटल के बैरों की तरह लिट्टी के आगे ला रखती। लाल की पत्नी जब यह देखती तो मन में बड़ी प्रसन्न होती, पर ऊपर से कहती कि आया लिट्टी बाबा के लिए जैसे अंडे की पुडिंग बनाती है, हमारे लिए नहीं बनाती। आया लजा जाती और उसके गालों पर हल्की-सी सुर्खी उभर आती और लाल कभी-कभी लिट्टी के प्रति आया के स्नेह को लेकर मज़ाक कर दिया करता।

इस बार जब लिट्टी आया था तो आया ने पहले ही की तरह पुडिंग बनायी थी। प्लेट में जमायी थी। पुडिंग का वह किंचित लाल पीला स्तूप अपनी सौंधी-सौंधी गंध से लाल के नथुनों में सुवास भर गया था। उसने आया से वही पुराना मज़ाक भी किया था और आया वैसे ही लजा भी गयी थी। लिट्टी ने अपने जीजा जी की तबीयत का हाल-चाल पूछा था और जब उसके जीजा जी खाना खाकर आराम करने चले गये थे तो लिट्टी ने एक लड़की का जिक्र किया था, जिसका भाई उसकी कम्पनी में काम करता था और जिसने अपनी बहन के सिलसिले में उससे बात चलायी थी। लिट्टी को लड़की पसन्द थी। घर भी वह बसाने को तैयार था, पर उसने कभी कुछ जोड़ा न था। शादी कैसे हो, यह समस्या उसके सामने थी। सो इस सम्बन्ध में बहन से सहायता लेने वह पंचगनी चला आया था।

रात सोने से पहले लाल की पत्नी उसके पास आयी थी और घुमा-फिराकर उसने लिट्टी का घर बसाने की अपनी पुरानी साध और अपने माता-पिता की अनुपस्थिति में अपनी ज़िम्मेदारी का उल्लेख किया था और आँखें भरते हुए बोली थी कि यदि उसके माता-पिता जीवित होते तो उसका भाई क्या ऐसे ही ठोकरें खाता?...केवल दो-तीन दिन की बात है, यदि लाल किसी तरह रह ले....भीमी बाई और आया तो हैं ही और फिर ज़रूरत पड़ने पर वह माली को बुलवा सकता है.... लिट्टी का घर बस जाय तो उसकी बड़ी चिंता मिट जाय !

लाल ने हामी भर दी थी और उसकी बीवी ने दूसरे ही दिन पहली बस से जाने का फ़ैसला कर लिया था।

लेकिन दूसरी सुबह जब वह तैयार हुई तो आया भी साथ ही तैयार हो गयी और उसने अकेले पीछे रहने से इनकार कर दिया।

“तुम साथ चलोगी तो साब को खाना कौन पकाकर देगा, उन्हें मैं अकेले कैसे छोड़ जाऊँ ?” लाल की बीवी भुल्लायी थी ।

“हम कूँ डर लगता है ।” आया ने कहा था, “हम पीछे नेंई रहेंगा । तुम्हारे साथ जायँगा ।”

सामान तैयार था, कुली लेने आ गये थे और आया ने लफ़ड़ा डाल दिया था । जब वह किसी तरह तैयार न हुई और लाल की बीवी ने उससे जाकर शिकायत की तो वह धड़धड़ाता हुआ आया और उसने जैसे बन्दूक दागी :

“तुम को काहे का डर लगता है ?”

“हम कूँ डर लगता है रात कूँ ।”

“तुम्हें डर लगता है तो तुम मेम साब के कमरे में सोना और अन्दर से दोनों दरवाज़े बन्द कर लेना !”

लेकिन वहीं ट्रंक पर बैठकर वह रोने लगी थी कि वह पीछे नहीं रहेगी और मेम साब के साथ ही जायगी ।

लाल ने एक नज़र उस पर डाली—साड़ी के छोर से वह आँसू पोंछ रही थी । रोती हुई वह लाल को और भी कुरूप लगी । उसके जी में आयी कि भोंटे से पकड़कर उस चुड़ैल को घर से बाहर कर दे । यह ठीक है कि उसने उन्हें काफ़ी आराम दिया था, पर उसकी कोई इच्छा न थी; जो उन्होंने पूरी न की हो—इस बीच में दो साड़ियाँ उसे लेकर दी थीं; स्कर्ट और ब्लाउज़ सिलवा कर दिये थे; पहाड़ के लिए रज़ाई-दुलाई दी थी । चूँकि उसे मछली-भात पसन्द था, उन्होंने उसे अलग खाना पकाने की इजाज़त दे दी थी और वह नित नये दिन, नये प्रकार की मछली पकाती थी । ‘साबुन विलायती इसे चाहिए, ब्रश-क्रीम इसे चाहिए....और अब दो दिन के लिए काम पड़ा तो लगी नखरे करने—चुड़ैल कहीं की ! डर रही है, जैसे इस परीज़ाद को

कोई उठाकर ही तो ले जायगा !' लाल ने क्रोध से मन ही मन कहा ।

उसके भाई की सगाई का प्रश्न—लाल की बीवी उड़कर बम्बई पहुँच जाना चाहती थी, पर अपने पति को अकेले भी वह कैसे छोड़ जाती । आया की ज़िद से वह रोनक्खी हो गयी । अपने भाई की दुल्हन को देखने की जैसी साध उसकी पत्नी के दिल में थी, उससे लाल परिचित था । उसकी आँखों में आँसू देखकर उसके सिर पर खून सवार हो गया और उसने कड़क कर आया से कहा कि वह उसी वक्त चली जाय और फिर कभी न आये ! अपनी पत्नी को उसने आदेश दिया कि वो जाय और उसकी चिन्ता न करे, वह माली से कहकर सुबह-शाम की चाय का प्रबन्ध कर लेगा, बाज़ार के होटल में जाकर खा आया करेगा और माली से कह देगा कि रात को हॉल-कमरे में सो जाय और पत्नी से उसने कहा था कि लिट्टी की बांत पक्की करके वह क्षण-भर को भी बम्बई में न रुके और तत्काल वापस चली आये ।

लेकिन तभी आया साड़ी के छोर से आँसू पोंछकर उठ खड़ी हुई और काम करने लगी । लाल की बीवी ने आश्चस्त हो, उसकी पीठ थपथपाते हुए, उसे तसल्ली दी कि दो ही तीन दिन की बात है, वो घबराये नहीं, वह जल्दी ही आ जायगी ।

अपनी पत्नी को बस में सवार करके लाल वापस आया तो आया ने कहा, “साब पानी गर्म है, तुम बाथ ले लो ।”

इतवार का दिन था । लाल प्रायः उस दिन मालिश करके नहाया करता था । कभी उसकी पत्नी मालिश कर देती थी, कभी घाटन भीमी बाई, जो बूढ़ी थी, पर बुढ़ापे के बावजूद जिसके हाथों में काफ़ी शक्ति थी ।

“भीमी बाई नहीं आयी ?” सहसा उसने पूछा ।

“ओ आज नई आयेंगा सब । बाहरगाम गया है । तुम बोलो तो हम मेसाज कर देता है ।” आया ने बड़े प्यार से कहा ।

“नहीं मैं कर लूँगा ।” लाल का क्रोध अभी कम न हुआ था ।

अपने कमरे में जाकर ज़मीन पर चटाई बिछा, वह धीरे-धीरे मालिश करने लगा । यद्यपि उसका ज्वर दूट गया था, देह भी भर आयी थी, ए० पी० भी अब वह महीने में केवल दो बार लेता था, पर उसे न तेज़ चलने की इजाज़त थी, न ऐसा काम करने की, जिससे फेफड़ों पर ज़ोर पड़े । वह धीरे-धीरे मालिश कर रहा था कि उसने देखा—आया हॉल में खड़ी है और उसकी निगाहें उस पर टिकी हैं ।

“क्या बात है आया ?” मालिश करते-करते उसने पूछा ।

आया निकट आ गयी । मिनमिनाते हुए उसने कहा, “साब, हम तुम को मेसाज कर देता है ।”

“नहीं आया, तुम जाओ, पानी रखो । हम धीरे-धीरे कर लेगा ।”

आया क्षण-भर खड़ी उसे देखती रही, फिर चली गयी ।

नियमित समय पर आया ने उसे नाश्ता कराया और फिर ज़ोर दिया कि वह आराम करे । लेकिन लाल लंच के बाद आराम करता था । कपड़े पहनकर वह तैयार हो गया कि डाक्टर पराड़कर के यहाँ अखबार ही देख आये ।

“साब टाइम से आ जाना ।” आया ने उससे कहा, “लंच को देर न लगाना । हम ठीक टाइम पर तैयार कर देगा ।”

“हाँ-हाँ मैं ठीक टाइम पर आ जाऊँगा !” कहते हुए लाल बाहर चला गया ।

डाक्टर । के यहाँ अभी अखबार आया न था । वह ‘बेल-एयर सेनेटोरियम’ के अपने मरीज़ दोस्तों से मिलने चला गया । वहाँ कैरम

खेलने लगा। फिर कुछ नये मरीज़ उसे हाथ दिखाने लगे। लंच की घंटी बजी तो वह उठा। वापसी पर उसे कुछ देर हो गयी। आया बाहर सीढ़ी पर बैठी थी। बाल उसके खुले थे और साड़ी उसने नयी पहन रखी थी। उसके बाल लम्बे न थे, और छोटे खुले बालों में वह अजीब हवन्नक लगती थी।

“तुम बहुत देर कर दिया साब, हम कब से तुम्हारा रास्ता देख रहा है।”

और आया उठ खड़ी हुई और उसके पीछे-पीछे हॉल-कमरे में आ गयी।

सहसा अपना हाथ उसने लाल के आगे कर दिया, “साब तुम सब का हाथ देखता है, हमारा भी देखो।”

लाल पामिस्ट न था। यों ही सेनेटोरियम में वक्त काटने के लिए उसने कैरो और बेनहम की पुस्तकें पढ़ी थीं और साथी मरीज़ों के हाथ देखा करता था। एक नज़र उसने आया के हाथ पर डाली। कोमल, लेकिन किचन का काम करने के कारण खुरदरी हथेली—लाल जानता था कि आया अभी तक कुँआरी है। हँसकर उसने कहा, “तुम्हारी शादी जल्दी ही होने वाली है। घबराओ नहीं।”

आया लाज से बुरी तरह सिमट गयी, चेहरा उसका लाल हो गया। दूसरे क्षण कुछ और निकट होकर अजीब-से मद-भरे स्वर में उसने कहा, “ठीक-ठीक बताओ साब, मसकरी नहीं करो।”

लाल ने उसका हाथ छोड़ दिया।

“अब जाओ, जल्दी खाना खिलाओ, मुझे भूख लगी है। फिर फ्रुस्रत में तुम्हारा हाथ देखेंगे।”

खाना खाकर वह सोने चला गया। बिस्तर पर ही शाम की चाय आया ने उसे पिला दी। चाय के बाद हाथ-मुँह धो और कपड़े बदल

कर जब वह तैयार हुआ तो उसने देखा कि आया नयी साड़ी पहनकर हॉल-कमरे में तैयार खड़ी है।

“क्या बात है आया ?” उसने किंचित् आश्चर्य से पूछा।

“साब सैर को नेंई चलेंगा ?”

लाल का कायदा था कि वह चाय के बाद प्रायः अपनी पत्नी के साथ बाहर सड़क पर एक-आध मील सैर के लिए जाता था। उसके मन में आयी, आया से पूछे, क्या ‘तू’ मेरे साथ सैर को जायगी—लेकिन उसने केवल इतना कहा, “मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ, मुझे इंजेक्शन लेना है।”

और इससे पहले कि आया कुछ कहती, वह छड़ी हिलाता हुआ खट-खट सीढ़ियाँ उतर गया। जब वह लौटा तो शाम का अंधेरा घिर आया था। हॉल-कमरे में रोशनी थी, पर आया बाहर अंधेरे में सीढ़ियों पर बैठी थी।

“साब तुम बौत देर कर दिया, हम कूँ डर लगता था।”—उसके स्वर में कुछ अजीब-सी आर्द्रता थी।

खाना खाकर लाल सोने के कमरे में गया और उसने टेबल-लैम्प जलाया तो उसने देखा—आया ने उसके रेशमी लिहाफ़ को चारों ओर से मोड़कर उसकी वैसी ही बोतल-सी बना-दी थी, जैसी उसकी पत्नी बना दिया करती थी। कपड़े बदलकर वह बिस्तर पर जा बैठा और टाँगें उसने लिहाफ़ की उस बोतल में पसार लीं और दीवार से पीठ लगाकर बराबर की तिपाई से एक उपन्यास उठाकर पढ़ने लगा।

बाहर एकदम सन्नाटा था। यह बँगला, जिसमें लाल की बीबी ने तीन कमरों का वह पोर्शन लिया था, किसी ज़माने में लड़कियों का स्कूल था। आगे पाँच हॉल-कमरे और पीछे दस छोटे कमरे थे। उनके पाँच पोर्शन मालिक-मकान ने बना रखे थे। उस वक़्त उसके

दोनों किनारों के पोर्शन तो किराये पर उठे हुए थे, पर शेष तीन हिस्सों में केवल बीच का पोर्शन लाल के पास था। इर्द-गिर्द के हिस्से खाली पड़े थे। साथ के कमरे में लोग रहते हों तो कभी-कभार कोई आवाज़ दोवारें मेदकर भी आ जाती है। लेकिन लाल के यहाँ तो सरेशाम ही सन्नाटा छा गया था। बच्चा था तो उसे कभी शाम की तनहाई का वैसा अहसास न हुआ था। लेकिन उस साँझ, जैसे पहली बार उसे लगा कि वह जगह एकदम अकेली, मौन और स्तब्ध है। केवल हवा पीछे के बाँसों में सरसरा रही थी या कभी-कभार बाँस की कोई कँटीली शाख टिन की छत को छीलती हुई चली जाती थी और छत दर्द से कराह उठती थी। बीच-बीच में सन्नाटा इतना गहरा हो उठता कि लाल को अपने दिल की धड़कन तक सुनाई देने लगती।

आया किचन में खाना खाने और बर्तन आदि सम्हालने गयी हुई थी और लाल सीने तक रज़ाई लिये उपन्यास पढ़ रहा था। जाने उपन्यास नीरस था अथवा रात के सन्नाटे, अपनी बीमारी और तनहाई का अहसास उसे छू गया था, या जाने वह रोज़ की अपेक्षा सैर को दूर निकल गया था और थक गया था, वह चाहता था कि आया खाने वगैरह से निबटकर आ जाय तो वह बत्ती बुझाकर सो जाय।

तभी उसने हॉल-कमरे का दरवाज़ा बन्द होने और उसकी चिटखनी के चढ़ाये जाने की आवाज़ सुनी। दूसरे क्षण आया अपना बिस्तर उठाये हुए आयी और उसके पलंग से कुछ दूर, फ़र्श पर अपनी चटाई और दुलाई बिछाने लगी।

लाल चौंका—“क्या कर रही हो आया ?”

“हम कूँ उदर डर लगता है, हम इदर बिस्तर बिछायेंगे।”

“तुम्हारा दिमाग़ खराब है !” लाल के स्वर में खोभ थी, “उधर डर लगता है तो मेम साब के कमरे में सोओ और अन्दर से दोनों

दरवाज़े लगा लो ।”

“हम उदर नेंई सोयेंगा, इदर सोयेंगा ।” और वह पूर्ववत् बिस्तर बिछाती रही ।

खीभकर लाल ने रज़ाई एक ओर की ओर उछलकर पलंग से उठा । आया का बिस्तर उठाकर वह साथ के कमरे में ले गया ।

“तुम यहाँ बिस्तर लगाओ । यह दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लो । बस ।”

“हम कूँ अकेला कमरा में डर लगता है ।”

लाल झल्ला उठा । उसने जाकर बीच का दरवाज़ा खोल दिया ।

“लो—अब यहाँ बिस्तर लगाओ । मैं उधर लेटा हूँ, कोई डर की बात नहीं ।”

“हम उदर बिस्तर बिछाता तो क्या होता ?” आया ने बड़े भोलेपन से पूछा ।

“होता तेरा सिर !” लाल मन-ही-मन खदबदाया । प्रकट बोला, “तुम तो बेवकूफ़ हो । मैं बीमार आदमी हूँ । रात में दो-तीन बार उठता हूँ, बाथ-रूम....”

“बाथ-रूम को जाने का रास्ता हम छोड़ दिया था ।”

लाल ने पिस-पोर्ट पलंग के पायँते के नीचे रखा हुआ था । अब वह उसे कैसे समझाता । बड़बड़ाता हुआ वह पलंग पर आ गया ।

आया ने चटाई उठाकर दरवाज़े में बिछा ली और चौखट पर ाकिया लगाकर लेट गयी ।

यद्यपि लाल की नींद उड़ गयी थी, तो भी उसने टेबल-लैम्प की बत्ती बुझा दी और लेट गया ।

रात जब-जब वह उठा, उसे लगा, जैसे आया जाग रही है । हर बार उसे लम्बी साँस की आवाज़ आयी और महसूस हुआ जैसे आया

ने करवट बदली है ।

दूसरी सुबह वह जगा तो उसने देखा कि आया का बिस्तर गोल है, बाहर दिन चढ़ आया है और वह उसके सिरहाने की तरफ़ हॉल के दरवाज़े में खड़ी उसकी ओर निर्निमेष तक रही है । लाल ने उधर देखा और कहा, “आया बेड-टी लाओ ।”

“अभी लाता है साब ! तुम उठो और ब्रश कर लो ।”

और वह उसी तरह खड़ी उसे देखती रही ।

लाल के अंग सुबह-सुबह बेतरह तने थे । वह चाहता था कि आया टले तो वह उठे और बाथ-रूम जाये । लेकिन आया वहीं खड़ी थी और टुकुर-टुकुर उसे तके जा रही थी । कुछ क्षण वह उसके जाने की बाट देखता रहा, फिर उसने झल्लाकर कहा, “तुम जाओ, चाय का इन्तज़ाम करो ।”

“तुम उठो साब, हम....”

“तुम जाओ तो हम उठें,” और मन में उसने कहा, ‘अजीब गंधी है, कुछ समझती ही नहीं ।’

उसकी आवाज़ में कुछ ऐसी कड़क थी कि आया निमिष-भर को सहम गयी । फिर वह आगे बढ़ी और जल्दी से प्यार का हाथ उसके चेहरे पर फेरते और पुचकारते हुए उसने कहा, “तुम गुस्सा नहीं करो साब, हम अभी जाता है ।”

और वह चली गयी ।

दिन-भर लाल उखड़ा-उखड़ा-सा रहा । उसके मुख पर प्यार का हाथ फेरते हुए आया के चेहरे पर जैसा भाव था, जाने उस में क्या बात थी, लाल ने फिर न आया से आँख मिलायी, न उसे अपने निकट आने का अवसर दिया । लंच के बाद बिना आराम किये वह

घर से निकल गया और शाम की चाय और रात के खाने के लिए मना करता गया ।

सारी दोपहर उसने सेनेटोरियम के बाहर और भीतर के मित्र-रोगियों के साथ काटी, डिनर होटल में खाया और काफ़ी देर में घर लौटा ।

आया पिछली शाम की तरह सीढ़ियों पर बैठी उसकी राह देख रही थी । यह अजीब बात है कि कभी जब देर से आने पर वह अपनी पत्नी को वहीं सीढ़ियों पर अपनी राह देखते पाता था तो उसे अच्छा लगता, पर आया को वहाँ बैठे देखकर उसे बड़ी भुँभलाहट हुई ।

“साब तुम बौत देर कर दिया ।” उसे आते हुए देख, आया उठी, “हम कब से बैठा तुम्हारा रास्ता देख रहा है । हम कूँ बौत ढर लगता था ।”

लाल ने केवल इतना कहा, “सेनेटोरियम में देर हो गयी आया ।” और फिर सहज भाव से पूछा, “तुम ने खाना खा लिया ?”

आया ने इसका उत्तर नहीं दिया और बोली, “साब तुम ठंड में बाहर रहेंगा तो बीमार हो जायेंगा ।”

लाल चुप रहा । अपने कमरे में जाकर उसने टेबल-लैम्प जलाया । बिस्तर लगा था, रज़ाई की बोतल बनी थी, उसने कपड़े बदले और टाँगें रज़ाई में पसार, दीवार से पीठ लगाकर बैठ गया । सामने दरवाज़े में आया का बिस्तर भी लगा था । उसने सिरहाने से उपन्यास उठाया और पढ़ने लगा ।

तभी बाहर का दरवाज़ा लगाकर आया आ गयी, लेकिन अपने बिस्तर पर जाने के बदले उसके सिरहाने आ खड़ी हुई ।

“साब, तुम सो जाओ । दिन में तुम आराम नैई किया, रात भी तुम नैई सोया ।”

“तुम को कैसे मालूम है, हम तो खूब सोया ।” बिना उसकी ओर देखे, लाल हँसा ।

“तुम जितनी बार उठा, हमको मालूम है । अब तुम सो जाओ ।” और उसने लाल के टेबल-लैम्प का स्विच ऑफ़ कर दिया ।

लाल ने फिर टेबल-लैम्प जला लिया, “तुम जाकर सो जाओ । मैं अभी ज़रा पढ़ूँगा ।”

लेकिन आया अपने बिस्तर पर जाने के बदले उसके पलंग पर आ बैठी ।

लाल क्षण-भर को चकित रह गया ।

“क्या बात है आया ?” यथासम्भव सहज भाव से उसने पूछा ।

“हम साब शादी बनाने को माँगता है ।”

लाल बरबस हँसा । “ज़रूर शादी बनाओ,” उसने कहा, “हमसे जो भी होगा, हम तुम्हारी मदद करेंगे ।” दिल में उसने कहा—इस साली को साहस कैसे हुआ मेरे बिस्तर पर बैठने का ! उसकी दृष्टि अपनी चम-चम करती रेशमी रज़ाई पर गयी । उसी निमित्त उसने यह भी देखा कि आया के कपड़े खूब धुले हैं और उसके चेहरे पर हल्का-सा पाउडर भी लगा है । उसने अपनी बात जारी रखी, “तुमने अपनी जात का कोई आदमी देखा इदर ?”

“हम ‘तुम’ से शादी बनाने को माँगता है ।”

लाल तीस-एक वर्ष का पतला छरहरा आदमी था । यद्यपि उसने फ़्रेनिक और ऐड्डीयन आप्रेशन भी कराये थे और खूब ग़िज़ा भी खायी थी और हर दूसरे दिन कैलशियम और विटामेन-बी के इंजेक्शन भी लिये थे, पर उसके शरीर पर अधिक चरबी न आयी थी और बीमारी में किये जाने वाले आराम ने उसे और भी खूबसूरत बना दिया था । आया की बात सुनकर वह चौंका और यद्यपि हल्की-सी

घबराहट में उसने अपने माथे से बालों की लट को पीछे किया, पर अपने मन के भावों को उसने चेहरे पर नहीं आने दिया। आँख भरकर उसने आया को देखा—यद्यपि उसके चेहरे पर किंचित् खिसियानापन था, पर लज्जा बिलकुल न थी—लाल उससे क्या कहे, वह तय न कर पाया।

ऊपर टीन की छत पर बाँस की कोई शाख अपनी चीख से रात के सन्नाटे को तोड़ती चली गयी। लेकिन लाल ने कुछ नहीं सुना। वह आया से क्या कहे, वह तय न कर पाया। उसे पहले क्रोध आया। पर क्रोध को बरबस दबा, अपने स्वर को यथासम्भव संयत और सहज बना, तनिक आगे होकर उसने उसकी पीठ को थपथपाते हुए कहा, “तुम पागल हो, मैं तो बीमार आदमी हूँ, मुझे तो मेम साब के पास गये....”

आया हँसी, “हम को सब मालुम है, तुम ठीक है।”

और हाथ पीछे फैलाकर वह रज़ाई पर ऐसे लेट गयी कि रज़ाई के अन्दर लाल की टाँगें उसके भार से दब गयीं।

तब उसकी पीठ के नीचे हाथ देकर लाल ने उसे ज़ोर से ठठा दिया।

“तुम पागल हो गयी हो ! जाओ, जाकर सो जाओ !” और उसे बरबस उसके बिस्तर की ओर धकेल, टेबल-लैम्प बुझा, रज़ाई ओढ़, वह सो गया।

“सा—।—।—।—ब !”

अपने बिस्तर पर से आया की लम्बी साँस-जैसी, सन्नाटे को भेदती, आवाज़ आयी।

लाल ने मुँह दीवार की ओर कर लिया।

ऊपर छत पर बाँस की शाख ने शायद फिर छत को खरोंच दिया।

लाल चुप रहा। क्षण-भर को उसके मन में खयाल आया, इस आया के बदले यदि कोई जवान सुन्दर लड़की होती तो क्या वह ऐसे ही (बीमारी के बावजूद) निश्चेष्ट बना रहता !

“सा—।—।—ब !”

काफ़ी ऊँची टेरती आवाज़।

लाल घबरा गया। वह इस उदमाती का क्या करे ?

“सा—।—।—ब !”

वह डर गया। यदि उसने किसी तरह उसे शान्त न किया तो ? अगर निराशाजनित क्रोध में वह शोर मचादे—‘साब ने हम से जबर-बस्ती करने का कोशिश किया है’ तो ?—वह लाख बीमार सही, कोई उसकी बात न मानेगा। लोग पहले ही कहते हैं, इस बीमारी में आदमी और भी वासनासक्त हो जाता है....पर इस कुरूपा के साथ....कल्पना-मात्र से लाल पर घड़ों पानी पड़ गया।

“सा—।—।—ब !”

उदमाती आया बराबर कराह रही थी। झल्लाकर लाल ने टेबल-लैम्प जलाया। उछलकर वह उठा और आया को लाँघता हुआ उसके सामने जा खड़ा हुआ।

आया चित लेटी थी—हाथ और टाँगें फैलाये—प्यासी, ऊबड़-खाबड़ धरती की तरह बेबाक और निरलज्ज !

अनिश्चित बादल-सा वह तना खड़ा रहा।

कि सहसा वह उसके बिस्तर पर घुटनों के बल बैठ गया।

“देखो आया, तुम उमर में मुझसे बड़ी हो। तुम्हें कहीं ग़लती लगी है। मैंने तुम्हें कभी इस रूप में नहीं देखा। मैं बीमार हूँ। मैं कुछ नहीं कर सकता।”

“सा—।—।—ब !”

दबी कराहट-सा स्वर—न जाने कैसी तृष्णा थी उस स्वर में— हाथ से उसने अपने सीने को दबा लिया, जैसे वह फटा जा रहा हो, आँखें उसकी फैल-सी गयीं। लाल घबरा गया ! क्या आया को फिट आ रहा है—“आया क्या बात है, क्या तुम्हें दौरा पड़ता है ?”

“हमारा जी घाबरता है। हम मर जायँगा !”

लाल की समझ-सोच की शक्तियाँ जवाब दे गयीं। घबराहट में उसने उसके दिल पर हाथ रखा। वह पूछना चाहता था—‘तुम्हें कहाँ तकलीफ है ?’ पर आया के ब्लाउज़ का टिच बटन खुला था। हथेली का ज़रा-सा जोर पड़ते ही ब्लाउज़ खिसक गया। अचकचा कर उसने हाथ उठाना चाहा कि आया ने अपना बायाँ हाथ उस पर रख कर उसे दबा दिया। लाल ने बरबस अपना हाथ खींचना चाहा तो आया ने अपना बायाँ हाथ उसकी गर्दन में डाल, उसके सिर को अपने सीने से भींच लिया।

‘आया तुम पागल हो....’ कहने के लिए, गर्दन को छुड़ाने का प्रयत्न करते हुए, उसने मुँह खोला ही था कि आया ने दूसरा हाथ भी उसकी गर्दन में डाल कर उसे फिर भींच लिया।—वाक्य पूरा नहीं हुआ—लाल ने मुँह में कुछ अजीब-सा स्वाद पाया—उसके नथुनों में साबुन और पाउडर की मिली-जुली सुगन्ध बस गयी। शायद आया के कोई दाँत भी लग गया क्योंकि उसके सीने पर उसने लोहू सिमटा देखा।

पूरे जोर से वह चिल्ला उठा—“आया !”

“हम तंग नैई करेंगा साब, हम तंग नैई करेंगा....हमारा जी घाबरता है।”

कोमल, किंचित् दबा-दबा सीना। लाल ने कभी बचपन में ऐसे ही सीने पर सिर रखा होगा....लेकिन यह आया....झुंझलाकर उसने

सिर को छुड़ाना चाहा। आया ने उसे नहीं छोड़ा। बायें हाथ से उसके सिर को अपने सीने से भींचे, वह दायें हाथ से उसके बाल सहलाती रही।

तब दोनों हाथ धरती पर टिका कर लाल उठा। आया उसके साथ चिमटी 'साब तुम घाबरो नैई'....'साब तुम घाबरो नैई'....कहती किंचित् उठ गयी।

....अनिश्चित बादल बरसा नहीं, पर वह तृषित धरती अपने सुखे पहाड़ों को ले उससे चिमट गयी और उस स्पर्श-मात्र से जैसे उसके सोते फूट चले !...

....लाल पागलों की तरह अपनी गर्दन छुड़ाने की चेष्टा कर रहा था। तभी उसकी पसली में ज़ोर का दर्द उठा। ढीला पड़कर कराहते हुए उसने कहा, "आया मेरी पसली दर्द कर रही है, मुझे छोड़ दो !"

आया ने बड़ी कोमलता से उसे अपने साथ चिमटा लिया। उसकी अपनी पकड़ ढीली हो गयी। उसके अंग शिथिल हो गये।

"साब हम तुम्हें कुछ नैई कहा। तुम योही घाबर गया।" और उसने दायों हाथ उसके चेहरे पर फेरते हुए उसे पुचकार दिया।

दूसरे क्षण लाल आया के बाहु-पाश से मुक्त था और वह एक ओर को छुदक गयी थी।

बाहर बाग़ीचे में बायें कन्धे पर बिस्तर उठाये और दायें में छोटा-सा अटेची लिये, आया जा रही थी। लाल के होंठों से आवाज़ नहीं निकली। वह उसे जाते देखता रहा। हवा शायद तेज़ थी, क्योंकि सिलवर-श्रोक के पत्ते पलटकर अपनी सफ़ेदी दिखा रहे थे और बादल बाग़ में बढ़ आये थे और देखते-देखते उन्होंने पेड़ों के ऊपर के हिस्से ढक लिये थे। केवल तने दिखाई दे रहे थे और आया उन तनों में से

परलैग * *

होती चली जा रही थी । एक बार फिर लाल के मन में आया—
बढ़कर उसे आवाज़ दे, पर वह निश्चल खड़ा रहा । और आया
गेट से बाहर निकल गयी ।

लाल चुपचाप बिस्तर पर जाकर लेट गया । फिर उसने बेचैनी से
करवट बदल ली और मुँह दीवार की ओर कर लिया ।





 महज़ कोई चटपटा खयाल आ जाने से उसे लिख डालना मैं अपने लेखक का अपमान समझता हूँ, फिर चाहे वह कितना भी मनोरंजक क्यों न हो। वह विचार यदि किसी सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन नहीं करता अथवा मनुष्य के मनोविज्ञान, उसके आधारभूत गुण-दोषों को समझकर पाठक को अपना मार्ग बनाने में सहायता नहीं देता तो वह कितना भी मनोरंजक और रसीला क्यों न हो, उसे छूना मैं अपने समय और शक्ति का अपव्यय समझता हूँ।....कला के सौष्ठव में पूरा विश्वास रखने के बावजूद, मैं उद्देश्य-विहीन अथवा प्वाइंट-लेस कम ही कोई चीज़ लिखता हूँ।



‘पलंग’ की अधिकांश कहानियों का स्वर सेक्स का स्वर है। एक-आध को छोड़कर, शेष के आधारभूत विचार मेरे दिमाग में वर्षों से किलबिला रहे थे। कुछ घटनाएँ मेरे मन को कभी कोंच गयीं और बार-बार हॉण्ट (Haunt) करने लगीं। ऐसी स्थिति में लेखक के लिए उन्हें रचना में व्यक्त कर देने के सिवा कोई चारा नहीं। लेकिन, जैसी कि मेरी आदत है, मैं किसी घटना को लेकर उसी समय कम ही लिखता हूँ। फिर कुछ ऐसी भी बातें हैं, जिनके बारे में प्रायः मैं नहीं लिखता। सेक्स उनमें से मुख्य है।

गत वर्ष ‘बेबसी’ छपी तो बड़ा शोर मचा। बहुत-से पत्र आये।

एक मित्र ने खेद-भरे स्वर में यह भी कहा—‘अशक जी, यह आप क्या लिखने लगे हैं ।’ मुझे याद नहीं, ऐसा प्रश्न कभी किसी ने मंटों या इस्मत से पूछा हो । वे यदि सेक्स से भिन्न कहानी लिखते तो आश्चर्य होता । मैंने भी यह क्षेत्र उन्हीं के लिए छोड़ रखा था कि यह उनका प्रिय क्षेत्र था और इसमें उन्हें सिद्धि प्राप्त थी । लेकिन, जैसा कि मैंने कहा, कभी-कभी कोई विचार अथवा घटना दिमाग को कुछ इस तरह परेशान करने लगती है कि लेखक जब तक उसे कलम की नोक पर नहीं ले आता, उसे मुक्ति नहीं मिलती । कुछ ऐसी ही मजबूरी में मैंने ये कहानियाँ लिखी हैं ।

पिछले पैंतिस वर्ष में लिखी सौ-डेढ़-सौ कहानियों में से केवल तीन—‘अंकुर,’ ‘उबाल’ और ‘चट्टान’—ही ऐसी हैं, जिनका मुख्य स्वर सेक्स का है । इन तीनों में भी (और इन्हें मैं अपनी दस सर्व-श्रेष्ठ कहानियों में गिनता हूँ) ‘उबाल’ एक-मात्र ऐसी है, जिसमें ‘बेबसी’ ही की तरह सेक्स उभर कर आया है । पहले-पहल वह कहानी हिन्दी में छपी थी तो कुछ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में उसका काफ़ी विरोध हुआ था, लेकिन अभी चन्द दिन पहले, जब विदेश से निकलने वाले एक प्रतिनिधि संकलन के लिए मैंने अपनी पाँच कहानियाँ भेजीं, तो उनमें से यही चुनी गयी । महज़ कोई चटपटा खयाल आ जाने से उसे लिख डालना मैं अपने लेखक का अपमान समझता हूँ, फिर चाहे वह कितना भी मनोरंजक क्यों न हो । वह विचार यदि किसी सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन नहीं करता अथवा मनुष्य के मनोविज्ञान, उसके आधारभूत गुण-दोषों को समझकर पाठक को अपना मार्ग बनाने में सहायता नहीं देता, तो वह कितना भी मनोरंजक और रसीला क्यों न हो, उसे छूना मैं अपने समय और शक्ति का अव्यय समझता हूँ । यह हो सकता है कि कला की सूक्ष्मता

से उस विचार को कहानी के माध्यम से व्यक्त करने के कारण किसी संस्कारहीन (Uninitiated) पाठक, किसी ईर्ष्यालु तथा कुंठित लेखक अथवा किसी पूर्वग्रह-युक्त आलोचक को लगे कि मैंने वह कहानी महज़ 'पापुलेरिटी' के लिए या रुपया पैदा करने के लिए या महज़ उस के 'चटपटेपन' से प्रभावित होकर लिख दी है। ऐसे महानुभावों से यही निवेदन है कि यदि वे मेरी ऐसी कहानियों को दो-एक बार अपने पूर्वग्रहों से मुक्त होकर पढ़ेंगे तो वे मेरी बात का पा जायेंगे, क्योंकि कला के सौष्ठव में पूरा विश्वास रखने के बावजूद, मैं उद्देश्य-विहीन अथवा प्वाइंट-लेस कम ही कोई चीज़ लिखता हूँ।

'उबाल' मैंने १९४१-४२ में लिखी थी। वही इस स्वर की मेरी अन्तिम कहानी थी। लेकिन गतवर्ष जब मैं कहानियाँ लिखने लगा, मैंने उन सभी विचारों और प्रश्नों से, जो मुझे वपों से परेशान किये हुए थे, मुक्त होने की ठानी और उस मूड में एक के बाद एक कहानी लिखता चला गया। बीच में साँस लेने के लिए हास्य-व्यंग्य की दो-एक हल्की कहानियाँ भी मैंने लिखीं, जो इसी संग्रह में संकलित हैं (यद्यपि वे मेरे कहानी-संग्रह 'छींटे' में होनी चाहिए; वैसे ही, जैसे 'अंकुर,' 'उबाल' और 'चट्टान' इस संग्रह में।) जिन पाठकों को ये कहानियाँ अच्छी न लगी हों, उनसे मुझे कुछ नहीं कहना; जिन्हें रुची हों, उनसे मेरा अनुरोध है कि वे 'अंकुर,' 'उबाल' और 'चट्टान' भी पढ़ें, तब वे इस सम्बन्ध में मेरी विचार-धारा को और भी अच्छी तरह जान सकेंगे !

'ठहराव' इस संग्रह की पहली कहानी है, जो १९५६ के 'कहानी-विशेषांक' में छपी थी और महीनों इसके बारे में पत्र आते रहे थे। सागर विश्वविद्यालय के श्री राजनाथ पाण्डेय ने तो चार-पाँच लेखों

में इसका उल्लेख किया। एक पाठक ने व्यंग्य से लिखा—‘नागपाल जी-ऐसे दूल्हा सभी माथों की बेटियों को मिलें।’ एक दूसरे पाठक ने पूछा था कि शक्को का पहला प्यार कैसे यथार्थ नहीं था और यदि उसका विवाह हेमी के साथ होता तो वह कैसे सुखी न होती? एक मित्र ने बड़े आक्रोश से लिखा—‘आपने प्रेम-विहीन विवाह का कैसे समर्थन किया है? क्या गारण्टी थी कि नागपाल से शक्को को प्रेम हो ही जाता? अगर नागपाल जी वैसे उदाराशय न निकलते तो? जो नारी प्रेम के बिना विवाह करती है—ज़िन्दगी की ज़रूरतों के लिए—उसमें और वेश्या में क्या अंतर है? शक्को को तो नागपाल जी से प्रेम हो गया, पर उन लड़कियों के बारे में ‘टहराव’ के लेखक का क्या मत है, जो बिना प्रेम के ब्याह दी जाती हैं और ज़िन्दगी-भर अपने पतियों से नफ़रत करने के बावजूद, निवाहे जाती हैं। आप की यह कहानी इस सर्वमान्य, मॉडर्न सिद्धान्त को झुठलाती है कि विवाह प्रेम के बिना नहीं होना चाहिए, इसीलिए यह प्रतिक्रियावादी है।’

मेरे जिन पाठकों या मित्रों ने उपर्युक्त आपत्तियाँ, एतराज़ या व्यंग्य किये हैं, उनसे मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि उन्होंने कहानी को ध्यान से नहीं पढ़ा। यह कहानी ऐसी लड़कियों के बारे में नहीं है, जो बिना प्रेम के विवाह के जुए में जोत दी जाती हैं और अपने पतियों से प्रेम किये बिना, वेश्यावत् जीवन जिये जाती हैं। कहानी न प्रेम-विवाह के विरुद्ध है, न पक्ष में। कहानी प्रेम के दो रूप दर्शाती है—पहला वह प्रेम है, जो आज के ज़माने में सिनेमा देखने वाली—सिनेमा की वैसी कैद नहीं, कहूँ कि हर वय-प्राप्त लड़की करती है; जो प्रेम से ज़्यादा (यद्यपि वह उसे प्रेम ही का नाम देती है) उसके वय-प्राप्त शरीर की माँग-मात्र होता है—ऐसे शर्बत-सा, जो पीने पर

प्यास बुझाने के बदले शायद और भड़का देता है। दूसरा प्रेम वह है, जो आरम्भ में उतना भड़कीला नहीं, पर धीरे-धीरे नसों में समा जाने वाला है। वय-प्राप्त शरीर की कोरी माँग का प्रतीक वह नहीं है, साथी के गुण-दोषों की गहरी समझ से जनित, अल्हड़ से बढ़कर समझदार हो जाने वाले दिमाग की माँग का प्रतीक है। यदि यह पत्र कहानी की नायिका ने अपनी शादी के तत्काल बाद लिखा होता, तो शायद वह हेमी के साथ अपने प्यार को उन शब्दों में व्यक्त न करती। पर यह पत्र उस घटना के दो वर्ष बाद, एक सहृदय, सुन्दर, सुसंस्कृत पति के प्यार की छाया में लिखा गया है, जब कि वह अल्हड़ लड़की पूर्ण-यौवना नारी बन गयी है—ऐसी नारी, जिसके हृदय में कहीं ममत्व भी जग उठा है, और अपने संगी से ज़िगका प्यार उसके शारीरिक सौन्दर्य ही के कारण नहीं है (यद्यपि उस सौन्दर्य ने उसे पहले दर्शन ही में आकर्षित ज़रूर किया है) वरन् उसकी शिशुवत् सरलता और हृदय की विशालता के कारण है—जब कि वह अपने उस अल्हड़ आवेग को उसके ठीक परिप्रेक्ष्य में देखना सीख गयी है। इसीलिए कहानी का नाम 'ठहराव' है, 'आवेग' नहीं।

कोई वय-प्राप्त लड़की पहला प्यार करती है और वह इतनी भाग्यवती भी हो सकती है कि उसी प्रेमी से, पति के रूप में, दूसरा गहरा और विशाल प्यार भी पा ले। पर यह कहानी वैसी लड़की की नहीं, उस लड़की की है, जो दो पुरुषों के माध्यम से दो तरह के प्यार की अनुभूति पाती है।

किसी लड़की का पहला प्यार ही यथार्थ और सच्चा है और सफल तथा सुखी वैवाहिक जीवन के लिए वही एक मात्र यथेष्ट है, मैं ऐसा नहीं मानता, क्योंकि मैंने अपने सामने एक बार नहीं, कई बार, इसी प्यार की नींव पर विवाह की इमारत को उठते और शरीर की माँग

में इसका उल्लेख किया। एक पाठक ने व्यंग्य से लिखा—‘नागपाल जी-ऐसे दूल्हा सभी माथ्रों की बेटियों को मिलें।’ एक दूसरे पाठक ने पूछा था कि शक्को का पहला प्यार कैसे यथार्थ नहीं था और यदि उसका विवाह हेमी के साथ होता तो वह कैसे सुखी न होती? एक मित्र ने बड़े आक्रोश से लिखा—‘आपने प्रेम-विहीन विवाह का कैसे समर्थन किया है? क्या गारण्टी थी कि नागपाल से शक्को को प्रेम ही जाता? अगर नागपाल जी वैसे उदाराशय न निकलते तो? जो नारी प्रेम के बिना विवाह करती है—ज़िन्दगी की ज़रूरतों के लिए—उसमें और वेश्या में क्या अंतर है? शक्को को तो नागपाल जी से प्रेम हो गया, पर उन लड़कियों के बारे में ‘ठहराव’ के लेखक का क्या मत है, जो बिना प्रेम के ब्याह दी जाती हैं और ज़िन्दगी-भर अपने पतियों से नफ़रत करने के बावजूद, निबाहे जाती हैं। आप की यह कहानी इस सर्वमान्य, मॉडर्न सिद्धान्त को झुठलाती है कि विवाह प्रेम के बिना नहीं होना चाहिए, इसीलिए यह प्रतिक्रियावादी है।’

मेरे जिन पाठकों या मित्रों ने उपर्युक्त आपत्तियाँ, एतराज़ या व्यंग्य किये हैं, उनसे मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि उन्होंने कहानी को ध्यान से नहीं पढ़ा। यह कहानी ऐसी लड़कियों के बारे में नहीं है, जो बिना प्रेम के विवाह के जुए में जोत दी जाती हैं और अपने पतियों से प्रेम किये बिना, वेश्यावत् जीवन जिये जाती हैं। कहानी न प्रेम-विवाह के विरुद्ध है, न पक्ष में। कहानी प्रेम के दो रूप दर्शाती है—पहला वह प्रेम है, जो आज के ज़माने में सिनेमा देखने वाली—सिनेमा की वैसी क़ैद नहीं, कहूँ कि हर वय-प्राप्त लड़की करती है; जो प्रेम से ज़्यादा (यद्यपि वह उसे प्रेम ही का नाम देती है) उसके वय-प्राप्त शरीर की माँग-मात्र होता है—ऐसे शर्बत-सा, जो पीने पर

लिखूँ। पर उस अन्त में आया के प्रति घृणा होती थी। वह अन्त कितना भी यथार्थ और चौंकाने वाला क्यों न हो; कला-कृति के रूप में वह मुझे ग्राह्य नहीं था। हो सकता है कि मंटो या यशपाल उस घटना के सम्बन्ध में लिखते तो वैसा ही अन्त करते। मेरे लिए वैसा सम्भव नहीं हुआ।

इस बीच में जब-जब वह घटना मेरे दिमाग में कौंधी, मुझे सदा उसे व्यक्त करने की इच्छा हुई। तब मैंने इस बारे में सोचना शुरू किया कि वह मुझे क्यों बार-बार कोंचती है। सच्ची बात यह है कि मुझे उसकी वीभत्सता नहीं, करुणा ही कोंचती थी। और वह करुणा केवल आया ही की करुणा नहीं थी। जब मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिल गया तो मैंने कहानी लिख दी। लेकिन यह कहानी उस घटना से किंचित् भिन्न उतरी—विशेषकर उसका अन्त बदल गया।

कहानी अच्छी बनी है या बुरी, इसका फ़ैसला तो मैं नहीं कर सकता। कहानी के बारे में काफ़ी शोर मचा। महीनों ‘नयी कहानियाँ’ में पत्र छपते रहे। पाठकों ने मुझे भी पत्र लिखे। समकालीन लेखकों ने इसकी सराहना भी की और निन्दा भी। जहाँ हरिशंकर परसाई, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और राजेन्द्रसिंह बेदी ने इसकी प्रशंसा की, वहाँ कुछ नये लेखकों को यह कमज़ोर लगी।

‘नयी कहानियाँ’ के काल्मनिस्ट ‘बक़लम खुद’ ने पत्रिका के अक्टूबर अंक में ‘हिन्दी की नैतिकता और बेज़बान ज़िन्दगी’ के शीर्षक से ‘बेबसी’ की कमज़ोरी पर खासा प्रकाश डाला है।

मैंने उस कालम को ध्यान से पढ़ा है। मुझे हैरत हुई है कि ‘बक़लम खुद’ ने, जो स्वयं भी बुरे कथाकार नहीं हैं, कहानी के मर्म को नहीं पकड़ा। अपने कालम में उन्होंने लिखा है :

“एक कहानी के रूप में ‘बेबसी’ को मैं अश्क की ‘बच्चे,’ ‘कैप्टन

रशीद' और 'टेबल-लैण्ड' के बराबर की चीज़ नहीं मानता—सेक्स के अन्तर्गत छिपे हुए मातृत्व-भावना के संकेत के बावजूद, यह कहानी काफ़ी कमज़ोर रह गयी है।”

पहली बात तो यह कि इस कहानी की तुलना उपर्युक्त कहानियों से की ही नहीं जा सकती। यदि तुलना करना ही अभीष्ट हो तो इसकी तुलना 'उबाल' से होनी चाहिए, क्योंकि दोनों के आधारभूत विचार में थोड़ी समानता ज़रूर है—डेलिया के दो फूलों में तुलना हो सकती है, लेकिन डेलिया और पोपी में अथवा पोपी और गुलाब में तुलना करना बेसमझी का परिचय देना है।

फिर यह बात मेरी समझ में नहीं आयी कि 'बक़लम खुद' ने कहानी में मातृत्व की भावना का संकेत कहाँ से ढूँढ़ निकाला ! मैंने तो कहीं कहानी में ऐसा संकेत नहीं दिया—न किसी अन्य पाठक ने कहानी में वह संकेत पाया। 'बक़लम खुद' ने स्वयं ही वह संकेत उसमें आरोपित कर लिया और इस दृष्टि से कहानी को परखते हुए उसे कमज़ोर भी करार दे दिया और फिर उस कमज़ोरी के कारण बताते हुए खासी हास्यास्पद बातें लिख गये।

'बक़लम खुद' का कहना है कि मैंने कहानी में जो बात कहनी चाही, वह पूरी स्पष्टता से नहीं कही और मैं उस साहित्यिक नैतिकता से डर गया हूँ, जिससे हिन्दी का सारा साहित्य आक्रान्त है और जिसके कारण किसी भी ('बेवसी' के संदर्भ में सेक्स के) पक्ष का वर्णन उस अन्तरंग आत्मीयता से नहीं होता, जिसके साथ आज के युग की दूसरी भाषाओं के लेखक करते हैं और मैंने पूरे विवरण के साथ बात कहने के बदले, प्रतीकों का सहारा लिया है और कहानी का विवरण उसके कथ्य को ठीक से नहीं उभार सका।

दूसरा कारण 'बेवसी' की कमज़ोरी का इन 'महान काल्मनिस्ट'

के निकट (जिनके दो-तीन कालम पढ़कर ही नयी लेखिकाएँ—लेखक नहीं—अपनी कहानियाँ उन्हें सम्मत्यर्थ भेजने लगी हैं) यह है कि 'इस कहानी का शिल्प भी नया नहीं, बल्कि कथा-वस्तु के निर्वाह के लिए जो पैटर्न लिया गया है, वह काफ़ी पुराना है ।'

जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, दूसरों की बात मैं नहीं जानता, लेकिन मैं स्वयं झूठी नैतिकता का कायल नहीं (और इसका प्रमाण स्वयं यह कहानी-संग्रह है) लेकिन मैं यह बात भी नहीं समझ पाता कि जो बात कलापूर्ण ढंग से, प्रतीक द्वारा, अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही जा सकती है, उसे क्यों नंगे-खुले विवरण देकर, फूहड़ ढंग से कहा जाय ? विदेश का कोई लेखक भूख मारता है तो हम भी मारें, यह दलील तो मेरी समझ में नहीं आती—'बकलम खुद' अथवा उनके मित्रों की समझ में आती हों तो मैं नहीं जानता (फिर दूसरी भाषाओं में प्रतीकों की सहायता नहीं ली जाती, ऐसी बात नहीं, पिरेनैलो की कहानियाँ और मैटरलिक के नाटक प्रतीकों के आधार ही पर खड़े हैं और पास्तरनाक का उपन्यास 'डा०ज़िवागो' तो, पूरे-का-पूरा एक प्रतीक है ।) मुझे नंगे-खुले विवरण देने में भी आपत्ति नहीं, यदि उनके बिना बात पूरी तरह न कही जा सके । लेकिन मेरा खयाल है (और कहानी के बारे में जो प्रतिक्रियाएँ आयी हैं, उनसे भी लगता है) कि जो बात मैं कहना चाहता था, मैंने पूरी तरह कह दी है ।

रहा शिल्प, तो मैं रूपाकार की कभी चिन्ता नहीं करता—जिस रूप में या जिस शिल्प द्वारा बात पूरी तरह कही जा सके, उसे मैं अपना लेता हूँ । नया शिल्प अपनाने के मोह में, मेरे कुछ युवक मित्रों ने अपनी कई अच्छी कहानियाँ चौपट कर ली हैं और इस बात से मैंने सीख ली है । पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे 'बकलम खुद' का लेख ज़रूर पढ़ें । और कुछ न सही तो 'बकलम खुद' के मनोविज्ञान का

बड़ा ही मनोरंजक परिचय उन्हें इसमें मिलेगा ।

इन्हीं 'महान' काल्मनिस्ट के एक दूसरे कथाकार मित्र ने, जो कथ्य के बदले सारा जोर शिल्प पर लगा देते हैं, 'बेवसी' को पढ़ कर कहा—'अशक जी, यदि लाल उस कुरूपा की बेवसी पर कुछ तरस खाकर उसे तृप्त कर देता तो क्या कहानी और ऊँची न उठ जाती ?'

मैंने कहा, 'भाई, उसके लिए कहानी को नये सिरे से लिखना होता और उसके नायक को तुम्हारी भावनाओं के अनुसार बदलना पड़ता और कहानी का आधार-भूत विचार ही नहीं, उद्देश्य भी बदल जाता और वह कहानी मेरी कहानी न रहती ।'

कहानी आदर्शवादी नहीं यथार्थवादी है । बेवसी आया ही की नहीं, लाल की भी है । उसके एक सुन्दर, स्नेहशील पत्नी है; वह अपने सेक्स-जीवन से संतुष्ट है, बीमार है और आया अत्यन्त कुरूप है । फिर आया केवल यौन-वासना की तृप्ति-मात्र नहीं चाहती, वह तृप्ति चाहती है लाल के माध्यम से । और लाल किसी सुन्दर युवती को पाकर चाहे डिग जाता, पर उस कुरूपा के सम्पर्क में उसका दम घुटने लगता है । दोनों की बेवसी में जो सूक्ष्मता (डेलिकेसी) है, उसका ध्यान रखे बिना कहानी के मर्म को पाना मुश्किल है । लाल-जैसे पात्र के माध्यम से वह अन्त नहीं हो सकता । केवल एक दिलचस्प कहानी लिखना मेरा उद्देश्य नहीं, कहानी के माध्यम से एक बात कहना मुझे अभीष्ट है—उस भूख का चित्रण करना, जिसकी तृप्ति सम्भव नहीं !

इन दोनों नये लेखक-बन्धुओं ने कहानी को वैसे नहीं परखा, जैसे कि वह लिखी गयी । कहानी पढ़ते वक्त वे शायद यही सोचते रहे कि वे स्वयं उसे कैसे लिखते । एक उसमें मातृत्व की भावना ढूँढ़ता रहा । संकेत उसने ढूँढ़ भी लिया, लेकिन पूरा विवरण उसे नहीं

मिला, इसलिए कहानी उसे कमज़ोर लगी। दूसरा नायक में शायद अपनी भावनाओं के अनुसार एक दृष्ट-पुष्ट, पर ठस व्यक्ति को चाहता रहा और न पाकर निराश हुआ।

इनके मुकाबिले में बेदी (राजेन्द्रसिंह बेदी) ने कहानी सुनकर कहा, “मैं इसे शायद ही कभी भूल सकूँ। यह मुझे सदा हॉट करती रहेगी।”

दिल्ली ही की एक दूसरी पत्रिका में किसी नये आलोचक ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि कहानी के शीर्षक से उसका क्या सम्बन्ध है? क्या यह अशक की बेवसी है?—हिन्दी में कुछ पत्र-पत्रिकाएँ इतनी गैर-जिम्मेदारी से सम्पादित होती हैं कि उनका महत्व सार्वजनिक बाथरूम की उस दीवार-जैसा है, जिस पर कुण्ठित युवक गन्दी बातें लिख कर तृप्त हो लेते हैं। उक्त पत्रिका के नये आलोचक यदि इस कहानी को ध्यान से पढ़ते तो उन्हें लेखक का मज़ाक उड़ाने की ज़रूरत न पड़ती।

इन दस-बारह वर्षों में लगातार इस कहानी के बारे में सोचते हुए, जैसा कि मैंने शुरू में कहा, मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि मुझे न तो उस अनुभूति की वीभत्सता कौचती है और न इस कहानी का सेक्स, बल्कि इंसान का रूप धरने वाली उस कुरूपा की अथाह बेवसी, जो एक सुन्दर, सुसंस्कृत, लेकिन बीमार पुरुष को चाहने लगती है। सेक्स का इलाज है। उसको यौन-भावना की तृप्ति सम्भव थी और कथा का नायक उसकी ओर संकेत भी करता है कि वह अपनी जाति वालों में जाय और ‘शादी बनाये!’ दिल्ली की उस पत्रिका के जिस आलोचक ने शीर्षक का अर्थ केवल सेक्स-सम्बन्धी बेवसी ही लिया है, उसकी बुद्धि का मैं क्या कहूँ—लेकिन जैसा कि मैंने पहले कहा, बेवसी केवल सेक्स की भावना की नहीं है, उसका एक सूक्ष्म रूप भी है,

जिसकी तृप्ति उन स्थितियों में असम्भव है और फिर वह दृश्य, जो उस बेबसी को और भी गहरा बना देता है—जब आया आँधरे में लगातार 'सा—ब !' 'सा—ब !' चिल्लाये जाती है—मुझे बराबर होंट करता रहा, बराबर सोचने पर विवश करता रहा और मैं आखिरकार उसे व्यक्त करने पर मजबूर हुआ ।

'नयी कहानियाँ' के एक पाठक ने इसकी कला की प्रशंसा करते हुए, इसकी सामाजिक उपादेयता पर आपत्ति की है । मैं उस पाठक की आपत्ति से सहमत हूँ । 'बेबसी' का यथार्थ सामाजिक यथार्थ शायद नहीं है और यही कारण है कि बारह बरस तक मैं इसे लिखने में संकोच करता रहा । लेकिन यह व्यक्ति-सत्य जरूर है और ऐसा सत्य है, जिसकी ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकती—स्पुतनिक और स्पेसयुग के आविर्भाव के बावजूद !

मेरे सामने जब-जब आया की वह कराहट—उसकी भूख का वह दृश्य आया, मेरा मन सदा उदासी से भर गया । बंगाल के अकाल के बारे में एक कहानी मैंने कहीं पढ़ी थी कि कुत्ते और आदमी जूटी पत्तलों पर एक-साथ टूट पड़े थे और आदमी कुत्तों के मुँह से निवाला छीनने में संकोच नहीं करते थे । भूख का वह नंगा और बीभत्स रूप आदमी के मन में घृणा और दया उपजाता है, लेकिन उसकी तृप्ति हो जाती है, चाहे वह जूटी पत्तलों ही से हो । लेकिन ऐसी बेबसी भी है, जब आदमी भूख से तड़प भी रहा हो और जूटी पत्तल भी न चाटना चाहे । और यह बेबसी और भी गहरी और दयनीय है ।

'बेबसी' में उस भूख के दोनों रूप चित्रित हैं !

ऐसे पाठकों से मुझे कुछ नहीं कहना, जिन्होंने कहानी में केवल चटपटापन पाया है । उन पाठकों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कहानी के आधारभूत विचार को पकड़ा है और मानव की उस अथाह बेबसी

के प्रति जिनके मन में करुणा उपजी है ।

‘पलँग’ तथा ‘भाग और मुस्कान’ किंचित् ‘डेलिकेट’ कहानियाँ हैं । पलँग के शिल्प में पञ्चोकारी है और ‘भाग और मुस्कान’ की वस्तु में सूक्ष्मता ! हाँ सकता है पाठक अथवा आलोचक मेरी बात से सहमत न हों, लेकिन मैं जैसे महसूस करता हूँ, कहता हूँ । मेरा मत ही पाठक माने, यह कोई ज़रूरी नहीं है ।

गत वर्ष एक शादी में, जहाँ बहुत से साहित्यिक इकट्ठे थे, मोहन राकेश ने गृह-स्वामी से एक बात कही और मेरे मन में वहीं पलँग का आधारभूत विचार कौंध गया । इस कहानी के लिए मैं राकेश का आभारी हूँ । लेकिन वह विचार इतना अस्पष्ट था, इतना उलझा हुआ कि उसे कहानी में ला पाना बड़ा मुश्किल लगता था । पहली बार मैंने कहानी लिखी तो सुनने वालों ने पसन्द की और मैं इसे ‘नयी कहानियाँ’ के लिए दे आया । घर आकर मैंने उसकी प्रतिलिपि पढ़ी तो मुझे लगा कि यद्यपि कहानी का खाका ठीक बन गया है, लेकिन जो बात मैं कहना चाहता था, वह पूरी तरह नहीं कह पाया । कहानी मुझे ऐसे पलँग-सी लगी, जिसे बुनने वाले ने जल्दी-जल्दी बुन दिया हो और जिसकी बुनावट में प्रकट कोई दोष न दिखाई दे, पर ध्यान से देखने पर उसका छिद्रापन उघड़ता जाय । दूसरे ही दिन जाकर मैं कहानी वापस ले आया और जैसा कि मेरी आदत है, मैंने उसे दर्रा में डाल दिया । तीन-चार महीने बाद मैंने उसे फिर उठाया और दोबारा लिखा । अपने साथी सुरेन्द्रपाल को मैंने कहानी सुनायी तो उन्होंने कहा कि कहानी ‘ए-बन’ हो गयी है—कसी-कसाई और दोष रहित ! लेकिन उन्हें कहानी सुनाते हुए मुझे लगा कि यद्यपि कहानी बहुत अच्छी बनी है—कुछ हैमिंग्वे या मॉम की सटीक कहानियों-

जैसी—लेकिन न तो वह पूरी बात उसमें कही जा सकी है, जो मैं कहना चाहता था और न वह मेरी कहानी ही लगती है (हीन भावना से ग्रसित, हिन्दी का कोई आलोचक यह न समझे कि मैं अपने-आपको बॉम या हैमिंग्वे से बेहतर कथाकार मानता हूँ । मैं उन दोनों का बड़ा प्रशंसक हूँ, लेकिन बात को मैं अपने ही ढंग से कहना पसन्द करता हूँ ।) बहरहाल कहानी मैंने फिर दराज़ में फेंक दी । चूँकि कहानी लिखी गयी थी, इसलिए 'नयी कहानियाँ' में उसका विज्ञापन होने लगा, सम्पादक 'नयी कहानियाँ' के तगादे भी आने लगे, लेकिन तब मैं कहानी नहीं दे सका । फिर मैं पिछले अगस्त में ('धूल के फूल' फ़िल्म के सिलसिले में) श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह और बी० आर० चोपड़ा के भगड़े में उलझ गया और बी० आर० चोपड़ा ने मेरे भी वारण्ट निकलवा दिये और मैं सात दिन के लिए अज्ञातवास में चला गया । तब वहाँ मैंने कहानी को फिर उठाया । अबकी मैंने उसे फिर से लिखा तो लगा कि बात बन गयी है और जो बात मैं कहना चाहता था उसे कहने में—नायक की ग्रंथि के जिस कारण की ओर मैं संकेत करना चाहता था, उसे व्यक्त करने में— सफल हो गया हूँ ।

मैं कहानी सिर्फ़ केशी की ही नहीं, उसकी माँ की भी लिखना चाहता था । इन दो धरातलों पर उठी हुई कहानी में केशी तो आ जाता था, उसकी माँ न आ पाती थी । लेकिन मेरे खयाल में कहानी जितनी केशी की थी, उतनी ही उसकी माँ की भी थी । कई बार और कई तरह इसका अन्त लिखा और अन्ततोगत्वा मुझे लगा कि अब मैं कहानी से पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ । अभी पाठकों की प्रतिक्रियाएँ नहीं आयीं, इसलिए मैं इससे ज्यादा और कुछ नहीं कह सकता—कौन जाने पाठक या आलोचक मेरी बात समझते भी हैं या नहीं !

‘भाग और मुस्कान’ का आधारभूत विचार वर्षों से मेरे दिमाग

में था। लल्लन को मैंने कई रूपों में देखा है। उसकी नज़ाकत और नफ़ासत सदा मुझे चकित करती रही है। लेकिन जब मैंने उसी लल्लन को अपने उस अत्यन्त कुरूप, गन्दे और गँवार पति के लिए परेशान और उदास देखा तो मेरे मन में कहानी लिखने का विचार उठा (कोई बुद्धिमान यह न समझ ले कि यह कहानी मैंने अपने ही जीवन से ली है। उस दृष्टि से तो इस संग्रह की एक भी कहानी मेरी अपनी नहीं, लेकिन कथाकार के नाते दूसरों की अनुभूतियों को अपना बना लेना मुझे आता है और यद्यपि मैं कहानी के पात्रों पर यथार्थ जीवन में अँगुली नहीं रख सकता, लेकिन वे कोई काल्पनिक हों, ऐसा भी नहीं— मैं अपनी आँखों के सामने उन्हें बिलकुल स्पष्ट रेखाओं में देखता हूँ।) लिखने की प्रक्रिया में कहानी केवल लल्लन की नहीं रही, मिस्टर मल्होत्रा और हरिया अनायास ही इसके महत्वपूर्ण पात्र हो गये। फिर जब मैंने कहानी लिखने की सोची थी तो सेक्स के सन्दर्भ में ही लल्लन के परिवर्तन का चित्रण मैं करना चाहता था, लेकिन लिखने और सोचने के क्रम में कहानी सौंदर्य-बोध और सेक्स की हो गयी और वह लल्लन का निकम्मा और आवारा, कुरूप पति हरिया अनायास ही अपनी स्वतंत्र सत्ता पा गया। मेरे कुछ मित्रों का (जिनकी राय को मैं महत्व भी देता हूँ) कहना है कि यह कहानी मेरी इधर की सभी कहानियों की अपेक्षा अधिक गहरी उतरी है। लिखते वक्त मुझे ऐसा आभास नहीं हुआ। मुझे 'बेवसी' और 'पलंग' पसन्द हैं, लेकिन जब 'नयी कहानियाँ' ही से सम्बन्धित दिल्ली के एक मित्र ने, जिनकी राय की भी मैं काफ़ी कद्र करता हूँ और जिन्होंने चारों कहानियाँ एक साथ पढ़ीं, यही बात कही तो मुझे लगा कि शायद मित्र ठीक कहते हैं। शायद लिखने की प्रक्रिया में अनायास ही कुछ ऐसी बातें आ गयी हैं, जो इसकी वस्तु को सूक्ष्मता और गहराई प्रदान कर

देती हैं। पाठकों से मेरा निवेदन है कि वे अपनी सम्मति जरूर दें।

‘एम्बेसेडर’ इस सिलसिले की अन्तिम कहानी है। एक दिन साथी सुरेन्द्रपाल ‘बड़ी-बड़ी आँखें’ का पाकेट-बुक एडीशन तैयार करने के सिलसिले में उपन्यास की पाण्डुलिपियाँ देख रहे थे (रेडियो के लिए उपन्यास को छोटा किया था और उसी मसौदे की तलाश थी) सहसा वे काम छोड़ कर आये और बोले “अशक जी, रायल्टी में हिस्सा दें तो मैं आपको एक बनी-बनायी कहानी दूँ (उनके और मेरे दरम्यान यह एक स्थायी मज़ाक है) आपने ग़लती से एक कहानी का मसौदा उपन्यास के मसौदे में रख छोड़ा है।”

मैंने उनसे कहा, “दिखाओ!”

“नहीं, मैं आपको टाइप कराके ही दूँगा।”

कुछ दिनों बाद टाइप किया हुआ जो मसौदा मेरे सामने आया, उस पर शीर्षक दिया हुआ था—‘सेफ्टी-वाल्व’

मैंने कहानी पढ़ी तो कहा, “यार यह कुछ नहीं है। दस-एक वर्ष पहले मैंने इसे बड़ी-बड़ी आँखें के पहले चैप्टर के तौर पर शुरू किया था ...”

“बड़ी-बड़ी आँखें के?” उन्होंने साश्चर्य कहा, “लाहौर के होटलों की नाइट-लाइफ़ का यह चित्र बड़ी-बड़ी आँखें के पहले चैप्टर का अंश था?”

“हाँ” मैंने कहा, “लेकिन उस तरह चला नहीं, इसलिए पड़ा रह गया।”

“यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि ‘बड़ी-बड़ी आँखें’-जैसे उपन्यास का आरम्भ ऐसे हुआ था।”

“हाँ, पहले मैंने इसी तरह शुरू किया था।”

“लेकिन कहानी तो यह बनी-बनायी है। इसे ‘नयी कहानियाँ’

को क्यों नहीं भेज देते ?”

“नहीं, यह कुछ नहीं है ।” मैंने कहा ।

“इतना अच्छा चित्रण है और आप कहते हैं कुछ नहीं ।” सुरेन्द्र पाल ने प्रतिवाद किया ।

मैं किंचित् खीझ उठा, “लेकिन अच्छा चित्रण ही तो कहानी नहीं ।” मैंने कहा, “यह एकदम प्वाइंट-लेस है । अगर इसमें कोई प्वाइंट होता तो क्या मैं इसे यों फ़ाइलों में फेंके रखता ।”

और मैंने मसौदा उन्हें वहीं रखने के लिए वापस दे दिया ।

सुरेन्द्रपाल की यह आदत है कि उनकी बात का प्रतिवाद किया जाय तो वे बिना बहस किये कभी हथियार नहीं ढालते और कई बार काम धरा-का-धरा रह जाता है और बहस होने लगती है । उनकी यह ज़िद थी कि कहानी में प्वाइंट होना कोई ज़रूरी नहीं है । कहानी एकदम मुकम्मल है और इसी तरह छपनी चाहिए ।

मैंने उन्हें समझाया कि प्वाइंट-लेस कहानी ज़रूर लिखी जा सकती है, लेकिन मैं वैसी कहानियाँ नहीं लिखता । जब से मेरे उपन्यास ‘गर्म राख’ को शिवदानसिंह चौहान ने प्रकृतवादी करार दिया है, दूसरे आलोचक भी बिना समझे-बूझे मेरे साहित्य को प्रकृतवादी घोषित करते आ रहे हैं, लेकिन प्रकृतवाद और यथार्थवाद में जो अंतर है, उसे मैं उन बुद्धिमानों से बेहतर समझता हूँ । अगर इस चीज़ को मैं ऐसे ही छपने को भेज दूँ तो यह प्रकृतवाद का आदर्श नमूना होगी—इसकी कोई सामाजिक अथवा वैयक्तिक उपादेयता नहीं । ज़िन्दगी में कीचड़ भी है गन्दगी भी । उसे यथातथ्य चित्रित कर देना उस कीचड़ के छींटे पाठकों पर फेंक देने से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखता । ऐसा करना ठीक है या ग़लत, इससे बहस नहीं, लेकिन मैंने ऐसा न कभी पहले किया है, न अब करूँगा । ‘जस का तस’ दीखने वाली मेरी

रचनाओं में सदा कला और कल्पना का समावेश रहा है। हाँ, मैं यह मालूम नहीं होने देता कि उसमें कहाँ यथातथ्य चित्रण है और कहाँ कल्पना। और इसे हो मैं उच्च-कोटि की कला मानता हूँ।

तब अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए, समाज की गंदगी के उस चित्रण-मात्र को सामाजिक यथार्थता देने के प्रयास में मैंने उसके तीन-चार रूप सुरेन्द्रपाल के सामने रखे। एक उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्होंने कहा, “अशक जी, आजकल आप इसी मूड में कहानियाँ लिख रहे हैं, क्यों नहीं इसे भी लिख देते !”

और मैंने कहानी लिख दी, जो नये रूप में ‘एम्बेसेडर’ के नाम से प्रस्तुत है।

‘खाली डिब्बा’ और ‘टोपियाँ और डाक्टर’ दो हल्की-फुल्की कहानियाँ हैं। एक दिन मैं शाम को बैठा काम कर रहा था कि एक मित्र आये, जो स्टेशन पर किसी सम्बन्धी को चढ़ाने गये थे और चूँकि मेरा घर स्टेशन के नज़दीक है, इसलिए मुझसे मिलने आ गये थे। बैठते ही उन्होंने स्टेशन पर होने वाली एक घटना सुनाई और एक-दो पात्रों का कुछ ऐसा वर्णन किया कि ‘पलंग’ लिखकर थका हुआ मेरा दिमाग कुछ रस-परिवर्तन के लिए, उसी हास्यास्पद घटना के बारे में सोचने लगा और अगले दो-चार दिन में कहानी का पहला मसौदा तैयार हो गया। अपनी आदत के अनुसार मैंने इसके दो-तीन वर्शन लिखे, लेकिन अन्तिम जो मसौदा मन को स्वीकार हुआ, वह पहले के निकट ही था। सोचा था कि शुद्ध हास्य की एक कहानी लिखूँगा, लेकिन व्यंग्य मेरे स्वभाव का अंग है और वह अनायास ही इसमें आ गया है।

‘टोपियाँ और डाक्टर’ ‘भाग और मुस्कान’ से निकली हुई कहानी

है। मल्होत्रा साहब की बीमारी के प्रकरण में मैंने पीलिया से उनके बीमार पड़ने का लम्बा विवरण दिया था। पर कहानी खत्म हुई तो लगा कि वह भरती का है। साथी सुरेन्द्रपाल ने कहा कि इस पर अलग से कहानी लिखी जाय। सो 'भाग और मुस्कान' खत्म कर के 'टोपियाँ और डाक्टर' लिखी। कैसी बनी है, कहना कठिन है। गम्भीर कहानियों के मध्य इनका हल्का-फुल्कापन पाठकों का कुछ तो मनोरंजन अवश्य ही करेगा, इसका मुझे पूरा विश्वास है।

पिछले दिनों एक मित्र ने अपना उपन्यास समाप्त करने की सूचना के साथ कालिदास की एक पंक्ति लिख भेजी :

आ परितोषाद्विदुषाम न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञान भू।

अर्थात् जब तक विद्वानों का परितोष न होगा, मैं अपने प्रयोग को सफल नहीं समझूँगा।

'पलंग' की कहानियों को समाप्त करते हुए मेरा भी जी होता है कि मैं इसी पंक्ति के साथ अपना यह संग्रह विद्वज्जनों के सामने रखूँ। लेकिन जब मैं अपने इर्द-गिर्द विद्वज्जनों पर दृष्टि डालता हूँ तो पाता हूँ कि पुरानों के पास तो समय का अभाव है। समसामयिक साहित्य का साथ देना उनके लिए नितान्त कठिन है—विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागों की अध्यक्षता, हिन्दी-बोर्डों की सदस्यता, पेपर और कापियाँ अथवा सरकारी विभागों की नौकरियाँ, कमेटियों की बैठकें और अनिवार्य जोड़-ताँड़ उनके समय का अधिकांश भाग समेट लेती है। नयों के सामने दस मसलहते हैं—लेखक मित्र-दल का है या शत्रु-दल का ? इस गुट का है या उस गुट का ? उनके अहम् की रक्षा करता है या नहीं ? उनके अपने मित्र-प्रकाशक का लेखक है अथवा शत्रु-प्रकाशक का ?—और इन मसलहतों का कोई अन्त नहीं।

तब एक ओर आत्मालोचन द्वारा अपना, और दूसरी ओर प्रकाशन द्वारा पाठकों का परितोष पाकर संतुष्ट होने के अतिरिक्त, अपना अधिकांश समय साहित्य-सर्जन में लगाने वाले लेखक के पास और कोई चारा नहीं।

जहाँ तक आत्मालोचन का सम्बन्ध है, जिस लेखक ने यह हिस पैदा नहीं की, उसे तो अपनी हर रचना विश्व-साहित्य की कोटि की दिखाई देती है, लेकिन जिसने देशी और विदेशी साहित्य के गहन अध्ययन, मित्रों, पाठकों और आलोचकों की राय से अपनी रचनाओं के गुण-दोष जानकर उन्हें सतत सँवारा है और यों यह हिस पैदा कर ली है, वह यदि अपनी किसी रचना से पूर्णतः संतुष्ट हो जाता है तो मेरा यह अनुभव है कि विद्वज्जन भी अन्ततोगत्वा उससे परितुष्ट हो ही जाते हैं।

रहे पाठक, तो कुछ आलोचकों का मत है कि पाठक की राय कोई महत्व नहीं रखती। पाठक हर तरह के हैं और किसी रचना की लोक-प्रियता उसके उत्कृष्ट होने का दलाल नहीं। और वे लोकप्रिय फ़िल्मों का हवाला देते हैं कि फ़िल्म जितनी ही लोकप्रिय होगी, उतनी ही निकृष्ट होगी। उनका मत है कि साहित्यिक आभिजात्य (Literary Elite) अथवा साहित्यिक स्नॉब (Literary Snobs) जब तक रचना का मान्यता नहीं देते, उसे उत्कृष्टता की सनद नहीं मिलती। मेरा अनुभव इस से भिन्न है ! अपने ही सामने मैंने देखा है कि साहित्यिक स्नॉब सदा प्रेमचन्द को उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे और वे निरन्तर पाठकों में लोकप्रिय होते रहे, यहाँ तक कि साहित्यिक स्नॉब भी उन्हीं का नाम लेकर हिन्दी-साहित्य की श्रेष्ठता के गुण गाने लगे।

पाठक (और सभी पाठक दसन्नी में फ़िल्म देखने वालों ऐसे

हैं, यह कैसे मान लिया जाय) रचना के अन्तिम निर्णायक होते हैं, मैं ऐसा मानता हूँ । विद्वज्जनों की स्थिति उनके सम्मुख वकीलों की-सी होती है और कई बार उनकी सारी वकालत के बावजूद वे रचना को नकार देते हैं । मैंने देखा है कि जिन रचनाओं को स्नेही विद्वज्जनों ने विश्व-साहित्य की कोटि का घोषित किया, वे लेखक के जीवन ही में भुला दी गयीं । कारण यह है कि पाठक के सामने (और मेरा संकेत सुधी पाठक की ओर है) लेखक नहीं होता, उसकी रचना होती है । लेखक के व्यक्तिगत गुण-दोष और राग-द्वेष से उसे गरज नहीं होती, रचना की अच्छाई या बुराई से मतलब होता है और यह बात भी उतनी ही सच है कि जिस रचना ने पाठकों का परितोष पाया है, उसे अन्ततोगत्वा विद्वज्जनों का परितोष भी मिला है ।

‘पलंग’ की कुछ कहानियाँ, जैसा कि मैंने बताया, वपों मेरे दिमाग में रहीं और मैंने काफ़ी सोच-समझकर उन्हें लिखा और बनाया-सँवारा है । कुछ के विचार नये हैं, पर लिखने की प्रक्रिया में मैं जे-धुले हैं और मैं उनसे पूर्णतः संतुष्ट होकर पाठकों के सम्मुख उन्हें रख रहा हूँ और आशा करता हूँ कि मेरे आत्मालोचक की तरह, पाठकों का भी परितोष इस संग्रह की अधिकांश कहानियों को प्राप्त होगा ।



